॥ श्री जिनायनमः ॥

॥ श्रीयशोधर चरित्रप्रारम्भः ॥

(अनुवादक कृत मंगल)

छप्पय

प्रणमिसंत अरिहंत कंत शिवनंत गुणाकर ।
समिकवंत वरषंत अमीवृष हंत दुखाकर ॥
करम अंतकरि सुख लहंत भगवंत त्रिलोकी ।
इंद्र वृंद सेवंत मंत तुम पाद विलोकी ॥
सुरनर मुनेन्द्र नित रटतवर, चरणयुगल ममहिय वसो ।
आनंद कंद मंगल सुकर, नमो नमो कर जोरिकर १॥

सवैया इकतीसा

सिद्ध नमो त्रियमुक्ति रमों सुकुबुद्धि वमों अविरुद्ध सदाहीं ।
लोक अलोक पदारथ जे अविलोकित ते समये इक माहीं ॥
करम के सूल किये निरमूल भये भरपूर सुधातम साहीं ।
अक्षयनंत अखंड निशंक स्वयं निकलंक सुखामृत पाहीं ॥ १॥

नाराच छन्द

नमामि धर्मसूरकों, उड़ाय कर्म धूरकों, वताय शर्म मूरको सुभाव पोत धारिकें। रखें न ग्रंथ पास ते, द्विधर्मको प्रकाशते भोसुक्ख तें उदासतें कषाय योग टारिकें ॥ त्रिरत्न हार भूषितं हितेश वचपियूषितं न राग है न दूषितं कुध्यानको निवरिकें । सु मुक्ति पंथ साधते, न जीव को विराधते, निजात्मा अराधते स्वतत्व कों विचार कें ॥ १ ॥

चौपाई

नमो सर्व उत्तम उवझाया । पाठन पठन सकल गुणदाया ।
पंडित द्वादशांग भर पूरे । हित उपदेश करन को सूरे ॥
पंच बीस गुणगण के धारी । पर उपकार करैं जग तारी ।
परम धर्म दर्शावन हारे । विकथ वितथ व्याहार न धारे॥

दोहा

सकल साधु प्रणमों सदा, वनवासी तप सूर ।
पंच महा वृत पालते, सहैं परीषह भूर ॥ १ ॥
पंच समित त्रय गुप्तिकों, पालैं मन वच काय ।
मूल अठाइस गुण धरैं, शत्रु मित्र सम भाय ॥२॥
इह विध मंगल चरण कर, मंगल हो निरबाध ।
करौं यशोधर चरित का, हर्ष पूर्व अनुबाध ॥ ३ ॥

॥ श्री ग्रन्थ कर्ता पुष्पदंत कवि कृत मंगल ॥

प्राकृत

तिहुणयण सिरिकंतहो अइसयवंतहो अरहंत हो ।
हयवम्महहो पणविवि परमेट्ठिहिं पविमल दिट्ठिहिं
चलण जु अलु णयसय महहो ॥

संस्कृत

त्रिभुवनश्रीकांतस्य अतिशयवतः अरिहतः हतकामस्य
प्रणम्य परमेष्टिनः चरणयुगलम् प्रविमलदृष्टेः नतशतमखस्य

भावार्थ

जो तीनलोक की लक्ष्मीका कंत, चौंतीस अतिशय युक्त, काम विमुक्त, उज्वल क्षायिकदर्शन सहित और शत इंद्रोंकर नमस्कार करने योग्य उस श्री अरिहंत परमेष्ठी के चरण युगल को नमस्कार कर मैं पुष्पदंत कवि यशोधर महाराज के चरित्र का प्रतिपादन करूंगा। इस प्रकार विघ्न

निवारणार्थ मंगल पूर्वक अरिहंत भगवानका उपकार स्मरण कर पुष्पदंत कविनें नमस्कारात्मक मंगल का प्रतिपादन किया।

ग्रन्थ बनाने का सम्बन्ध

कौंडिन्य गौत्र रूप आकाश में उद्योत करने वाले दिवाकर तुल्य ऐसे बल्लभ नामक महाराजा जिनका द्वितीय नाम कृष्ण महाराज तिनके भरत नामक मंत्री के पुत्र नन्ह के मंदिर में निवाश करते अभि मान मेरु पुष्पदंत कवि ऐसा बिचार करते हुए कि जो खोटे मार्गके प्रकाशक स्त्रीआदि कुकथाओं सहित शास्त्रोंसे पूर्णता होउ। किन्तु धर्म वर्द्धिनी कोई ऐसी कथा का प्रारम्भ करूं जिसके द्वारा श्रोता और वक्ता एवं दोनों को शीघ्रतर मोक्ष प्राप्त होई।

पांच भरत, पांच ऐरावत, और पांच विदेह एवं पंद्रह क्षेत्रोंकी धरा दयाकी माता और कृपाकी सखीहै--उन में धर्म उत्पन्न होताहै तथा उपर्युक्त पंचदश क्षेत्रोंमें पांच विदेह तो स्थिर धर्महैं अर्थात् विदेह क्षेत्रोंमें सास्वती धर्म रीति प्रचलित रहतीहै किन्तु पांच भरत और पांच ऐरावत एवं दश क्षेत्रोंमें धर्मकी न्यूनाधिक्यता रहतीहै। अर्थात् काल चक्रके परिवर्त्तनसे धर्मका प्रकाश और व्युच्छिप्त होता रहताहै। इस जंबूद्वीपकेभरत क्षेत्रमें प्रथमही धर्मकेप्रकाशक वृषभकी ध्वजाके धारक चार प्रकार देवेंद्रोंको हर्षित करने वाले श्रीवृषभ देव पुरुदेव स्वामि महाराजाधिराज हुए। उन्होंने जैसा धर्मका स्वरूप प्रतिपादन किया उसी प्रकार शेष तेवीस तीर्थंकरोंने भी किया। उन्होंके कथनानुसार मैं भी जीवोंको हितकारिनी, संसार तारनी, मिथ्या धर्म

विनाशनी, और सत्य धर्म प्रकाशिनी कथाका प्रारम्भ करूंगा इस कारण उपरोक्त चतुर्विंशति, तीर्थंकरोंकी गुणमाला निज हृदयमें धारण करों जिससे समस्त विघ्नोंकी शांति और मनोभिलषित कार्यकी सिद्धि हो।

चतुर्विंशति तीर्थंकराणां जयमाला

वत्ताणुट्ठाणे जणधणुदाने पइ पोसिउ तुहु खत्त धरु।
तुहु चरण विहाणे केवलणाणे तुहु परमप्पउ परम परु ॥१॥
जयरिसह रिसीसर णमियपाय।जय अजिय जियंगमरोसराय ॥
जय संभवसंभवकय विओय। जय अहिणंदणणंदियपओय २
जय सुमइसुमइ सम्मइ पयास। जय पउमप्पह पउमा णिवास।
जय जयहि सुपास सुपासगत्त। जय चंदप्पहु चंदाहवत्त ॥३॥
जय पुप्फयंत दंतं तरंग। जय सीयल सीयलवयणभंग।
जय सेयसेय किरणोहसुज्ज। जयवासुपुज्जपुज्जाणपुज्ज ॥४॥
जय बिमल २ गुणसेढिठाण। जय जयहि अणंताणंतणाण।
जय धम्म धम्मतित्थयर संत। जयसांतिसांति विहियायवत्त ५
जय कुंथुकुंथुपहु अंगिसदय। जय अर अर माहर विहियसमय।
जय मल्लिमल्लि आदाम गंध। जय मुणिसुव्वयसुव्वयणिवंध ६
जय णमिणमियामरणियरसामि। जय णेमि धम्मरहचक्कणेमि
जय पासपासछिंदणकिवाण। जयवड्ढमाणजसवड्ढमाण ७

घत्ता।

इह जाणिय णामहि,दुरियविरामहि,परहिंविणमियसुरावलिहिं
अणइणहिं अणाइहिं,समियकुवाइहिं,पणविवि अरहंतावलिहिं

मूलार्थ।

भोस्वामिन्! आपनें छत्र धारण कर असि, मषि, कृषि,

वाणिज्य और धनके दानसे प्रजा जनोंको पोषण किया. तथा तपश्चरणके विधानसे केवलज्ञान प्राप्तकर गणधरादिकों कर पूज्य उत्कृष्टपद धारण किया।

हे ऋषिश्वरोंकरनमस्कार योग्यचरणश्रीऋषभदेवजयवंतहोऊ

हे रागद्वेष औरकामके विजयिती श्रीअजितजिनेश्वर जयवंत०

हे सांसारिक जन्म मरणादिक नष्ट कर्त्ता श्रीसंभवतीर्थेश्वर जयवंत होऊ।

हे प्रजासमूहको आनंदित करनेवाले श्रीअभिनंदन स्वामिन् जयवंत होऊ।

हे निजसुमति से उत्तम मतके प्रकाशक श्री सुमतिनाथ तीर्थेश्वर जयवंत होऊ।

हे लक्ष्मी के निवाश श्री पद्म प्रभ तीर्थेश्वर जयवंतहोऊ

हे सुंदर पसवारों सहित गात्र के धारक श्री सुपार्श्वनाथ स्वामिन् जयवंतहोऊ॥

हे अंतरंग शत्रुओं के दमन करनेवाले श्री अष्टम तीर्थेश्वर श्रीचंद्र प्रभ जिन जयवंतहोऊ॥

हेकुंदके पुष्पसमानदांतों केधारक श्री पुष्पदंततीर्थेश्वर जय०

हेसीतलवचनभंगके प्रकाशकश्री सीतलनाथ तीर्थेश्वर जय

हे कल्याणरूप किरणों कर युक्त सूर्यसमान श्री श्रेयांस नाथ जयवंतहोऊ॥

हे पूज्य पुरुषोंकर पूज्य श्रीवासुपूज्य तीर्थेश्वर जयवंतहोऊ।

हेनिर्मलगुणोंकीपंक्तिके स्थानकश्रीविमलजिनेश्वरजयवंतहोऊ

हे अनंतानंत ज्ञानके धारक श्रीअनंतनाथ तीर्थंकरजयवंतहोऊ

हे धर्म तीर्थके कर्त्ता और शांति चित्त के धारक श्रीकुंथुजिनेश्वर जयवंतहोऊ॥

हेशांतिविधायकआतपत्रकेधारकश्रीशांतिजिनेश्वरजयवंतहोऊ
हेकुंथुआदिप्राणियोंसेंदयाकेधारक श्रीकुंथुजिनेश्वरजयवंतहोऊ
हेदालिद्रनाशकसमयकेरचयिता श्रीअरनाथतीर्थंकरजयवंतहोऊ
हे मालती के पुष्पसमान सुगंध कें धारक श्री मल्लिजिने-
श्वर जयवंतहोऊ ॥
हे सुंदर व्रत के धारक श्रीमुनिसुव्रत जिनेश्वर जयवंतहोऊ।
हे देवेंद्रोंकर नमस्कार योग्य श्रीनमि जिनेश्वर जयवंतहोऊ।
हे धर्मरूपरथके चक्रकीधुरा श्रीनेमिनाथ भगवान् जयवंतहोऊ।
हे संसारपाशि के छेदनेको कृपाण श्रीपार्श्वजिनेश्वरजयवंतहोऊ
हे वृद्धिंगत यशके धारक श्री वर्द्धमान जिनराज जयवंतहोऊ।

इस प्रकार पापों के नाशक, उत्तम देवों की पंक्तिकर नमस्कार योग्य, आदि अंत रहित और कुवादियों को दमन करनेवाले श्रीअरिहंतों के समूह को नमस्कार कर श्री यशोधर महाराज के चारित्रका प्रारम्भ करता हूं:—

कथारम्भः

जो अनेक द्वीप और समुद्रों कर वेष्टित, और अनेक संपदाओं का स्थान ऐसे जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में योधेय नामक देश है, वह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष एवं चारों पुरुषार्थों के उपकरण जिन मंदिर जिनबिंब आदि की उत्पत्तिका स्थान है, वह देश प्रशस्त समस्त पृथ्वी वलयका आभरण सदृश और सम्पदा का मन्दिर है जिस देश में जलों के निमाण पक्षियों के विलाश युक्त अत्यंत शोभनीय ऐसे दृष्टिगत होते हैं मानों भृकुटी के विभ्रमयुक्त

कामिनियों के समूह ही हैं जिस देशमें कुकवियोंकी भांति भ्रमरों के समुह भ्रमण करते हैं क्योंकि कुकवियों का हृदय भी स्याम है और भ्रमर भी स्याम हैं, जिस देश में नेत्र सदृश सचिक्कण तृणों के समूह और पुष्पफलों सहित मनोहर बनोपवन ऐसे शोभमान हो रहे हैं मानों पृथ्वीरुप कामिनी के नवीन यौवन ही हैं जिन उपवनों में गोपालों कर आस्वादित, मिष्ट और स्वादिष्ट फल ऐसे दृष्टिगत होते हैं मानों पुण्यरूप वृक्षके मिष्टफल ही हैं, जिस यौधेय देश में सुन्दर रोमावली, दुग्ध पूर्णस्तन उन्नत गंडस्थल और गलित कपोलों युक्त गाय महिष और बैलों के समूह बिचरते हैं जिस देश में रस पूर्ण पौंडा साटेनि (इक्षु) के वृक्ष पवन से कंपित होते कैसे दृष्टिगत होते हैं मानों नृत्य ही कर रहे हैं जिस देश में सुपक्क शालिके खेतों में शुक आदि पक्षिहों के मनोहर शब्द और कृषाणों की पुत्रियों के रमणीक गान सुनकर पाथकजन ऐसे मोहित हो जाते हैं कि आगे गमन नहीं करसकते इत्यादि उस देश की शोभाका कहांतक वर्णन करैं बिधाता ने स्वर्गलोक से ईर्षा कर मानो द्वतीय स्वर्ग लोक निर्मित किया है, कि जिस देश में धनधान्यवत बापिका हर्म्य पंक्ति आदि से सुशोभित ममोहर ग्राम नगरादि होरहे हैं-

प्राकृत

रायउरु मणोहरु रयणाचीयघरु तहि पुरवरु पवणद्धयाहि ।
चलिचिंहिंमिलियहिणमयलिघुलियहिछिवइवसग्गुसयभुवआहि

संस्कृत

रायपुर मनोहर रत्नाचितगृहे तत्र पुरवरं पवनधुते ।
चलध्वजैः मिलितैः नभस्तलेधुलितैस्पृशतिइवस्वर्गस्वकीयभुजं

अर्थ

उपरोक्त योधेय नामक देश में पुरों में श्रेष्ठ और रत्नों कर व्याप्त अति मनोहर राजपुर नामक नगर में पवन से हालतीं और नभस्तल से मिलतीं ध्वजाओं की पंक्ति कैसी सुंदर भासती हैं मानों निज भुजाओं से स्वर्ग को स्पर्शती हैं

कृत टीका अर्थ।

वह राजपुर नगर! सरस और मनोहर उपवनों कर अच्छादित ऐसा ज्ञात होताहै मानों कामके सायकोंसे वीधित ही हो रहाहो, जिस नगरमें देवालयोंमें तिष्ठते कपोत युगल मनोहर शब्द करते ऐसे भासते हैं मानों भव्य जीवों को बुलातेही हों जहां मदलिप्तकपोल गजोंके मद झरने से राज मार्ग में पंकतोरही हैं जिस नगरमें सरोवरों के तीर बास करते हंस समूह, जलके अर्थ गमन करती प्रोषिता नायकाओं के नूपुरों का शब्द श्रवण कर उनके पीछे पंक्ति बद्ध गमन करते कैसे दृष्टिगत होते हैं मानों कामिनियोंके पूर्ण घटों से पड़ती शुभ्र जलकी धाराही है अथवा उन स्त्रियों का यशही उनके पश्चात् भाग में गमन करता हो। वह राजपुर। भूमिपाल की भुजाका खंग और खातिका के जलसे अन्य शत्रुओं को दुर्गम है वह नगर। शुभ्र कोठसे वेष्टित कैसा शोभता है मानो नृपातिके यशसे व्याप्त ही है अथवा जगतके सौभाग्य का पुंज एक त्रित होकर नगर बाह्य तिष्ठा हुआ है जिस कोटके चार द्वार मरकट मणि की वंधन मालाओं कर शोभित कैसे द्दष्टिगत होते हैं मानो चारमुख हीहैं जिस राजपुर नगरमें सर्वस्थान प्रति धवल मंगलीक शब्दों की गुंजार होरही है जहां दो, तीन, चार,

पांच सात खनके मंदिर नवीन कुम कुम के रसकी छठा से अरुण होरहे हैं जिस पुरके राज मार्ग में बिखरे हुए मोतियों के कणों पर गमन करते जातेहैं जहां लक्ष्मी वान रूपवान धर्म निष्ठ शांति चित्त उत्तम पुरुषों का वास और नित्य ही विजय दुंदुभी नाद होरहा है उस राजपुर नगरमें मारिदत्त नामक नृपति राज करता भया

प्राकृत

कावग्गे जलियह पर मंडलियहं जोखंडइ अहिमाणसिहं
जसु णिहि घडधारिणि आणा कारिणि वियरइ सिरि घरि दासी जिहि

संस्कृत

कोपाग्नौ ज्वलितानाम् परमंडालि का नाम्
यः खंडाति अभिमान शिखां ।
यस्य निधिः घट धारिणी आज्ञा कारिणी
विचराति श्री घरदासी यथा ॥

मूलार्थ

वह मारिदत्त नृप! कोपाग्निसे दग्ध होते परमंडल के राजाओं की मानशिखा को खंडन करता था जिस नृपतिकें निधितो घटधारिणी (पनहारी) समान औलक्ष्मी । आज्ञा कारिणी गृहदासी सदृश बिचरती भई

टीकार्थ

वह मारिदत्त नृपति। दान देने में कर्ण सदृश विभवकर इंद्र तुल्य रूपकर कामदेव क्रांतिकर चन्द्रमा प्रचंड दंड देने में यमराज और अन्य राजाओं के बल रूप वृक्षों के उखाड़ने को प्रबल पवन समान था जिसकी हाथी की सूंडि समान लंबमान भुजा विमुख राजाओं को दाह उत्पन्न करनेवाला

सूर्य कांति सदृश मुख मंडल भ्रमरों के समूह तुल्य श्याम केशावली, कपाट तुल्य विपुल वक्षस्थल, तीन शक्तियोंके पालन में समर्थ दीर्घ नेत्र, लक्षण और व्यंजनों कर चिन्हित उत्तम गात्र और मेघ समान गंभीर शब्द था वह भूमिपाल धन और धान्य रक्षामें दक्ष चातुर्यताका भंडार,तेजपुंज दिवाकर और प्रशन्न वदन था परंतु धर्म सरण से अनभिज्ञ था, जिस मारिदत्त के परिकर में वृद्ध मनुष्यों का यश मात्र अवशेष था, अर्थात् वृद्ध पुरुष परलोकवासी हो जाने से उनका यशमात्र शेषथा औ तरुण पुरुष गर्वयुक्तथे किंतु समान वयस्क भट्ट योधा अमात्य आदि मंडल सहित क्रीड़ा करता था तथा जिसके योवन मद और लक्ष्मी के मद की प्रबलता थी परंतु वहां एक धर्म बिना प्रचुर अंधकार प्रसार तोरता था, सो सत्यही है कि ज्ञान के उदय बिना सार भूत शुभ मार्ग का अवलोकन किसप्रकार होसकता है ।

वह मारिदत्त । किसी समय तीव्र खुर और प्रचंदवेग युक्त अश्वपर आरूढ़ होकर धरातलको प्रकंपित और विपत्त्र व्रण युक्त करता वायु सेवनार्थ गमन करता था कभी २ मद लिप्त कपोल हस्तियों पर आरूढ़ होकर उल्लसित चित्त से अनेक भंग युक्त बनों में विहार करता था किसी समय कमनीय कामिनियों के पयोधरों में दत्त चित्त होकर बनोपवनों में नवपल्लव युक्त वल्लरी के मंडपों में रमण करता था कभी कभी वधिकों (शिकारियों) सहित अरण्य प्रति जाकर मृगादि पशुओं की मार्ग प्रतीक्षा करता था कभी २ एकांत स्थान में स्वयं ताल बजाता और गान करता हुआ जिन वनिताओं का नृत्य देखता था परंतु राज्य कार्य अनभिज्ञ

और धर्म से परान्मुख था सो सत्यही है कि उत्तम ज्ञाताओं के संसर्ग बिना धर्म की प्राप्ति किसप्रकार होसकती है।

मूल प्राकृत

तहो रज्जकरंतहो जणु पालंतहो मंति महंतिहिं परियरिउ।
एत्तहे रायउरहे धणकणपउरहे संपत्तउ कउलाइउ॥

संस्कृत छाया

तस्य राज्यं कुर्वतः जनं पालयतः मंत्रि महत्तरै परिवृत्तस्य।
एतस्य राजपुरे धनकणप्रचुरे संप्राप्तः कापालिकाचार्यः॥

मूलार्थ

मंत्री और महत्तरोंकर पूर्ण राज्य करते और प्रजाजनों का प्रतिपालन करते महाराज मारिदत्त के धन और धान्य से पूर्ण राजपुर नामक नगर में कापालिकाचार्य प्राप्तहुआ।

सं० टीकार्थ।

वह भैरव नामका आचार्य जगत को भयानक, झूंठ की राशि, समस्त अभक्ष का भक्षक, राजपुर नगरमें भ्रमण करता अनुकूल पुरुषोंको निज मार्ग (मत) की शिक्षा देता था वह कपटवेषी! रमणीक वर्णका टोपा दियें ग्रहस्थों के ग्रहों में हुंकार शब्द करता भिक्षाटन करता था वह भैरवा. चार्य! कानोंमें मुद्रा धारण कियें बत्तीस अंगुल प्रमाण दंड हाथ से उछालता, गले में योग वृत्ति पगोंमें पांवड़ी धारण करता, शृंगीका तड़ तड़ शब्द करता, सिंहपुच्छका गुच्छा लगायें मुंहचंग बजाता, और आप को महात्मा प्रगट करता लोकों को बिना पूछेही अपनी स्तुति करता इस प्रकार कहता था कि मेरे आगे चार युग व्यतीत हो जाने पर भी मैं वृद्ध नहीं हुआ किन्तु नल, नघुप, वेणु आदि महा

प्रतापी और पृथ्वीके भोक्ता महाराजा मेरे साम्हने हुए, राम और रावणके घोरसे ग्राममें राक्षसोंका यतन मैंने देखा, बंधु वर्ग सहित युधिष्ठिरको देखा, और कृष्णकी आज्ञासे विमुख मानी दुर्योधनको भी अवलोकन किया मैं चार युगों से जीवित हूं इसमें तुम लोग किंचित भी भ्रम मत करो मैं समस्त लोकोंको शांति करूंगा मुझमें इतनी सामर्थ है कि अति प्रचंड वेग युक्त दिवाकरके विमानका अवरोध कर सकता हूं चंद्रमा की छाया को रोकताहूं मुझे समस्त विद्या स्फुरायमान हैं किन्तु यंत्र मंत्र और तंत्र तो मेरे आगे २ गमन करते हैं इत्यादि वार्त्ता करता लोकों को रंजित करता नगर में भ्रमण करता था पश्चात् उसकी वार्त्ता समस्त नगर में फैल जाने से महाराज मारिदत्तके भी कर्ण गोचर हुई उस समय अति कौतुक युक्त होते महाराजने अमात्य [मंत्री] से कहा कि आप एकांतमें उस गुण गरिष्ट भैरवाचार्य के निकट जाकर नम्रता पूर्वक उसे यहां लेआओ।

मंत्री—महाराज की आज्ञानुसार जाकर मैं अभी उसे लेकर आता हूं इस प्रकार मंत्रीने विनय पूर्वक राजा का आदेश सुनाकर भैरवाचार्य से कहा कि अहो महात्मन्! आपके दर्शनसे महाराजके शीघ्रतर शांति होऊ।

भैरवाचार्य—यदि नृपतिकी ऐसीही इच्छाहै तो मैं शीघ्र गमनकर राजवंश में शांति स्थापन करूंगा ऐसा कहकर मंत्रीके साथ राजदरबार उपस्थित हुआ वहां तेज पुंज नारायण तुल्य महाराजको सिंहासनासी देखा पश्चात् भूपाल ने भी अनेक आडंबर युक्त भैरवानंदको देख सिंहासनसे उठकर सन्मुख जाकर भूमिसे मस्तक लगाकर दंडवत् किया।

भैरवाचार्य—महाराजका कल्याण होऊ इत्यादि आशीर्वाद देकर पुनः भैरवाचार्यने कहा राजन्! मैं साक्षात् भैरव हूं तेरी जो अभिलाषा होइ उसे प्रकटकर मैं उसे पूर्ण करूंगा इस प्रकार श्रवण कर माहराज नें प्रशन्न चित्तहोकर भैरवानंद को उच्चासन पर स्थापन कर आप उसके चरणोंमें पड़कर विज्ञप्ति करने लगे।

महाराज—स्वामिन्। मुझ मारिदत्तकी शल्यहरो नाथ आप सृष्टि संहारक योगीश्वर हो किन्तु कुल मार्गके पथिक सतत चिरंजीव हैं महाराज आपके चरणोंके प्रसादसे मेरा मनोभिलषित कार्यकी सिद्धि होयगी आप मुझपर प्रसन्न चित्त होऊ. मैं आप का सेवकहूं आप जो आज्ञा प्रदान करेंगे उसे शिरोधारण कर पूर्ण करूंगा।

(भैरवाचार्य मनही मन विचारने लगा)

प्राकृत

जोईसरु मण तुट्ठउ चिंतइ दुट्ठउ इंदियसुह मह पुज्जइ।
जं जं उदेसमि तं भुंजेसामि आएसहु संपज्जइ॥

संस्कृत छाया

योगीश्वरः मनासि तुष्टः चिंताति दुष्टः इंद्रिय सुखं मम पूर्यते।
जं जं उपदेशयामि तं भक्ष्यामि आदेशं संपद्यते॥

मूलार्थ

वह दुष्ट योगी। मन में संतुष्ट होता हुआ विचारने लगा कि मैं। जो जो उपदेश करूंगा वही मेरे इंद्रिय सुख पूर्ण होंगे और मैं। जो आदेश करूंगा वही भक्षण करूंगा।

भैरवाचार्य—नृपवर। मुझे समस्त ऋद्धियें लक्षमात्र में स्फुरायमान होती हैं मुझे सकला विद्या सिद्धि हैं मैं संहार

करने में पूर्ण समर्थ हूं, जो कोई मुझ से महान् पदार्थ की याचना करता है उसे तत्काल देता हूं मेरे निकट कोई पदार्थ अलभ्य नहीं इस प्रकार योगी की वार्ता सुनकर मारिदत्त महाराज कहने लगे-

राजा-देवदेव। गगन पथ से गमन करने की मेरी अभिलापा है.

भैरवाचार्य-नृपवर। तूं शत्रि कुलरूप कमोदनी के प्रकाशने को चंद्रमा है तूं! दुर्निवार शत्रुओं में अकारण व्याख्यान दाता है यदि निर्विकल्प चित्त से मेरा उपदेश ग्रहण करेगा तो अवश्य तुझे आकाश मार्ग से गमन कराऊंगा.

यह सत्य ही है कि जो ग्रहीत मिथ्यात्व से लिप्त होता है वह ज्ञानी जनों के उपदेश को ग्रहण नहीं करता. जैसा अंध पुरुष सुमार्ग कुमार्ग का अवलोकन नहीं करता. जैसे अंकुश की प्रेरणा से हाथी की सूंडि सब ओर गमन करती है उसी प्रकार भैरवाचार्य की प्रेरणा से मारिदत्त का चित जीवों की हिंसा में तत्पर होता सर्व ओर भ्रमण करने लगा, यद्यपि मारिदत्त भव्य है परन्तु अशुभोदय से कुसंगति के योग से कुमार्ग प्रति गमन करने लगा॥

प्राकृत

अग्गइ कइराउ पुष्फयंत सरसयिणिलउ।
देवियहं सरूउ वणाइं कईयण कुल तिलउ॥

संस्कृत छाया

अग्रतः कविराजः पुष्पदंतः सरस्वती निजयः।
देव्यः स्वरूपं वर्णयाति कविकुल तिलकः॥

मूलार्थ

अब कवि कुलतिलक और सरस्वती का आलय श्री पुष्पदंत कवि देवीके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

संस्कृत टीकार्थ

वह मारिदत्त नृप के प्रचंड शत्रुओं का विध्वंश कारिणी चंडमारि नाम की कुल देवता। वेताल काल (संध्या समय) मांस का अवलोकन करती राजपुर नामक नगर की दक्षिण दिशा स्थित आवास में निवाश करती थी जिस चंडमारि देवता का लुंवमान नरमुंडमाला उरस्थल, वालचंद्र सदृशमुख, विकराल डाढ़, सर्पिणी के वंधन युक्त दीर्घ और लंवमान स्तन युगल, निःसरती अग्नि की ज्वाला सहित तृतीय नेत्र, लंवमान, रक्त से आरक्त ललित जिह्वा वसा (चर्वी) की कर्दम से चर्वित कपोल, भुजंगनी विनिर्मित कटिसूत्र से व्याप्त कटिभाग, सर्पच्छादित चरण युगल स्मशान की धूलि से धूसरित काय, मांस रहित भयंकर अस्थि चर्म, मयूर शिखा समान कठोर और उन्नत केशावली, मृतको की अंत्रावली कर विभूषित भुजा, इत्यादि महा बीभत्स रूप की धारनेवाली चंडिमारि देवी। जीवों को त्रासित करनेवाली और जिनेन्द्र मार्गका तिरस्कार करती थी वह देवी। हिंसा मार्ग को प्रगट करती, दया धर्म दूर भगाती, नग्न शरीरा, मांस के ग्रास के निगलने को मुख उघाड़ती, कपाल कंबन्ध और त्रसूल को धारण करती, विराजमान थी उसी देवी का महा भक्त मारिदत्त राजा था.

भैरवाचार्य—राजन्! यदि गगन पथ का पथिक बनना हो और विद्याधर शत्रुओंको विजय कर दिग्विजय करना हो

तो जलचर, नभचर, और स्थलचर जीवों के युगल का चंड-मारि देवी अर्थ हवन कर ऐसा करने से तेरे समस्त कार्य सिद्ध होंगे ।

नृपति--आचार्य वर्य ! आप की आज्ञानुसार कोट पाल को भेजकर सर्व जाति के जीवों के जोडा बुलाता हूं ।

इस प्रकार कहकर महाराज ने कोटपालके बुलाने को अमात्य से कहा कि कोटपाल को बुलाकर समस्त जीवों के युगल कुल देवता (चंडमारि) के मन्दिर में एकत्रित करें ।

अमात्य– जो आज्ञा महाराज की मैं अभी कोटपालको बुलाकर महाराज का आदेश सुनाता हूं ।

ऐसा कहकर मंत्रीने कोटपालके बुलानेको किंकर भेजा सो किंकर जाकर कोटपालको बुला ल्याया.

कोटपाल–[मंत्रीसे] मैं आपकी आज्ञानुसार उपस्थित हुआ क्या आदेश होता है.

मन्त्री—महाराजने यह आदेश कियाहै कि जलचर स्थलचर और नभचर एवं समस्त जीवोंके युगल-चंडमारि देवीके आवासमें एकत्रित करनेकी किंकरोंको आज्ञा दो ।

कोटपाल–जो आज्ञा ! अभी किंकरोंको बुलाकर जीवों के बुलाने का आदेश सुनाता हूं.

इस प्रकार कहकर कोटपाल ने तत्काल बधिकोंको बुला कर समस्त जीवोंके युगल लाने की आज्ञादी पश्चात् उन हिंसक किंकरोंने सर्वत्र घूम फिरकर समस्त जीवोंके युगल चंडमारि देवीके मन्दिरमें एकत्रित कर कोटपालको सूचना दी पश्चात् कोटपालने आकर महाराजसे निवेदन किया.

कोटपाल–श्रीमहाराज ! आपकी आज्ञानुसार समस्त

युगल उपस्थित है अब क्या आज्ञा होती है।

इस प्रकार कोटपाल का संदेशा सुन महाराजने भैरवाचार्यसे कहा कि।

महाराज—स्वामिन् आपके आज्ञानुसार सर्व युगल उपस्थित होगए.

भैरवाचार्य—तो अब मातु श्री [देवी] के मन्दिर प्रति चलना चाहिये.

महाराज—जो आज्ञा।

ऐसा कहकर मन्त्री आदि समस्त परिकर सहित राजा चंडमारिदेवीके मंदिर प्रति जाता भया वहां पहुंचकर देवी से प्रार्थना करने लगा।

प्राकृत।

पेक्खिव कंचाइणी रूहिरचाइणि चक्कसूलआहिखग्गाधरि।
जय कारियभावे विमलसहावे महु परमेसरि दुरिउहरि॥

संस्कृत छाया।

प्रेक्ष्य कात्यायिनिं रुधिराचितां चक्रशूलाहि खड्ग धराम्।
जयकारित भावेन विमलस्वभावेन मम परमेश्वरि दुरितंहर॥

मूलार्थ।

रुधिरसे व्याप्त और चक्र त्रसूल और खड्ग धारण किये चंडमारिदेवीको देखकर जय जयध्वनि पूर्वक प्रार्थना करने लगा कि हे परमेश्वरि! अपने निर्मल स्वभावसे मेरे पापों को हर।

संस्कृत टीकार्थ।

पश्चात् मन्दिरमें स्थित, अजा, सूकर, रीछ, रोझ, हिरण, कुंजर, वृषभ, गर्दभ, मेढ़ा, भैंसा, घोड़ा, ऊंट, सिंह, अष्टापद, गैंडा, व्याघ्र, शशा, चीता आदि समस्त चतुष्पद,

युगल, काक, कुरच, सारस, मयूर, हंस, वगुला, सूवा, मैना, चकोर चील, बाज, लवा, बटेर, और घुघू आदि नभचर युगल, और मकर, मच्छ, मंडूक, गोह, सर्प आदि जलचर जीवोंके युगलोंका अवलोकन कर महाराज मारिदत्त ने भैरवाचार्यसे निवेदन किया।

माहाराज—स्वामिन् आपकी आज्ञानुसार समस्त युगल उपस्थित हैं अब कार्यका आरंभ कीजिये।

भैरवाचार्य— राजन् समस्त युगल देवीके सन्मुख उपस्थित किये जाइ मैं कार्यारंभ करता हूं।

तदनंतर समस्त युगल देवीके सन्मुख उपस्थित कर हवनका प्रारंभ होने लगा।

ग्रन्थकर्त्ताकृत उपदेश

प्राकृत।

णिय जीविउ वंचइ संति समिच्छइ परुमारेप्पियगु सूढ़मई।
णाणामयमिहुणाइ सव्वइ मारइ तिह अग्गाए णिवइ॥

संस्कृत छाया।

निजजीविंत वांछित शांतिं समीच्छति परंमाऽरयित्वा मूढ़मतिः
नानामृग मिथुनानि सर्वाणि मारयति तस्याः अग्रे नृपतिः॥

मूलार्थ।

मारिदत्त नृप उस चंडमारि चंडिकाके अग्रभागमें अनेक प्रकार मृगादि समस्तजीवोंके युगलोंको मारताहै सो वह मूढ़ मति परको मार निज जीवितव्यकी वांछा और शांतिकी कामना करता है।

संस्कृतटीकार्थ।

विष भक्षणसे जीवितव्यकी आशा, वृषभके श्रृंगोंसे दुग्धकी प्राप्ति, शिलातलमें धान्यकी उत्पत्ति, नीरस भोजन

से क्षांतिकी वृद्धि, उपशम भावों विना क्षमा, और पर जीवोंको मारकरशांतिवृद्धि क्याहो सकतीहै नहीं! नहीं !! कदापिनहीं !!!

(कथा प्रसंग)

वह आरक्तनेत्र अविवेकी मारिदत्त नृप जिस समय तृणभोजी मेषादि पशुओंके घातमें तत्पर हुआ उस समय भैरवानन्द समस्त युगलोंका अवलोकन कर पुनः राजासे कहने लगा।

भैरवाचार्य—नृपवर आपने समस्त युगल तो एकत्रित किये परन्तु मनुष्य युगल तो बुलायाही नहीं।

महाराज—आपकी आज्ञानुसार मनुष्य युगल को भी मंगाता हूं।

ऐसा कहकर चंडकर्म कोटपाल को बुलाकर राजाने आदेश किया कि प्रशंसायोग्य मनुष्यका युगल शीघ्र लेकर आवो।

कोटपाल—[हाथ जोड़कर] जो आज्ञा पृथ्वीनाथकी, मैं अभी चंडकर्मा किंकरोंको आदेश देकर उत्तम मनुष्य युगल बुलाता हूं।

ऐसा कहकर कोटपाल ने चंडकर्मा किंकरोंको बुलाकर कहा कि अति मनोज्ञ मनुष्य युगलको लाकर शीघ्र उपस्थित करो।

किंकर—(मस्तक नवाकर) आपके आदेश पूर्वक शीघ्रतर यत्र तत्रसे मनुष्य मिथुनको लाकर आपके निकट उपस्थित करते हैं।

तदनंतर अनेक चंडकर्मा किंकर नर युगलकी खोजमें नदीतट, सघन, अरण्य, नगर, उद्यान, वन, उपवन, पर्वत और गुफा आदि में गमन करने लगे।

अन्वयसम्बन्ध ॥ प्राकृत मूल

तहिं तेहए अवसरे हिंसावासरे पत्तु सुदत्तु सुसंघु मुणि।
पत्थिवणंदण, वण, दुमसाहाघण, कीर मोर कुरर उलकणि॥

संस्कृत छाया

तत्र तस्मिन् अवसरे हिंसावासरे प्राप्तः सुदत्तः ससंघः मुनिः।
पार्थिवानंदनवनं द्रुमशाखाघनं कीर मयूर कुरर कुलघनं॥

मूलार्थ

तहां उस हिंसा के अवसरमें वृक्षोंकी शाखाओंसे सघन और शुक मयूर कुरचोंके समूहसे पूर्ण पार्थिवानंद नामक बन प्रति संघ सहित सुदत्त नामक आचार्य प्राप्त हुए।

संस्कृत टीकार्थ

उस पार्थिवानंद बन में आरक्त शुक चंचुके चर्वणसे जर्जरित आम्र मंजरी कैसी दृष्टिगत होती थी मानों कामी जन कर मर्दित व्यभिचारिणी नायिकाही हो। जिस मनोहर बन में कोमल वल्लरीके रस रसिक भ्रमर वेलको स्पर्श करता कैसा ज्ञात होता था मानो नगर नायिकामें लुब्ध मदन की पीड़ा से पीड़ित नीच पुरुषही है उस रमणीक उद्यानमें सरस, सुकोमल और विकशित पुष्पकलिका युक्त मालती लता कैसी शोभा युक्त दृष्टिगत होती थी मानो कामरस युक्त कोमल और पुष्प विगुंफित केयूर युक्त नव वधूके बाहु युगलही हैं। जिस वनमें पवन प्रकंपित सार वृक्ष की शाखा प्रतिपुंजी भूत पुच्छ के गुच्छा सहित मयूर कैसी शोभा युक्त प्रति भासित होता था मानो वन लक्ष्मीके चमरका बिलास ही हो। जहां स्वच्छ जल पूर्ण सरोवरके तटों पर विचरते पुष्ट गात्र चकवा युगल, रस पूरित और

नवीन कमल खंड निज चंचुसे हंसिनीके मुख में देतें हंस समूह, अत्यन्त शोभायुक्त दीखतेथे जहां केतकी के पुष्पकी सुगंध में मग्न और केतकीके कंटकों से भग्न शरीरभुजंगकैसा प्रति भासित विरक्ता स्त्रीके नखोंसे विदीर्ण कामी पुरुषकी भांति प्रति भाशित होताथा जहां स्त्रीकी वीणाके शब्दमें लुब्ध निकटतिष्ठे मृग समूह हरित तृणोंका भक्षण नहींकरतेथे किंतु वाधिकके वाणको खाकर जिह्वालंपटी दुष्ट जीवोंके भक्ष्यबन जाते थे जिस बनमें यक्षिणी देवियोंके शरीरकी सुगंधता से मतोन्मत्त हस्ति समूह हथिनियों की खोजमें इत स्ततः भ्रमण करते कैसे दृष्टि गत होते थे जैसे संकेतके अनुसार गमन करती नायिका की वाट प्रतीक्षा करते व्यभिचारी पुरुष भ्रमण करते हैं। उसी मनोहर बनमें संघ सहित सुदत्ताचार्य प्राप्त हुए।

प्राकृत मूल

तंवण, जोयंते मयण कयंते भाणिउ पत्त फल खिज्जइ।
सम दम यमवंतह संतह दंतह एत्थुणि वासुण जु ज्जई॥

संस्कृत छाया

तंवनंपश्यतांमदनश्मुतासुदत्ताचार्येणभाणितःपत्रफलंभिद्यते।
सम्र दम यम वतां सतां दांतानां अत्र निवाशः न युज्यते॥

मूलार्थ

मदन के अंत करने वाले श्री सुदत्ता चार्यने उस वन का अवलोकन कर इस प्रकार कहा कि यहां पत्र और फलों का विध्वंस होता है इस कारण इस बनमें सम दम और यमी सत्य पुरुषों को निवास करना योग्य नहींहै।

संस्कृत टीकार्थ

तत्पश्चात् उग्र तपसे दीप्पमान् आचार्य वर्य्य यम स्थान तुल्य स्मश्शान स्थल प्रति पहुंचे वह स्मशान स्यालिनो कर विदारित उदर मृतकों के समूह और अति भयंकर शब्द करते काक और गृद्ध पक्षियों से व्याप्त होरहा था- वहस्म शान निष्फल पलाश वृक्षों के शुष्क पत्रों, तथा राक्षसों मुखसे निकलते उग्र स्वास और शूली दिये मृतकों के कलेवरसे अत्यंत भयंकर था वह स्थान ! चोरों के समूह से व्याप्त और मांस भक्षी पक्षियों तथा निशाचरों के किल किलाट शब्द से प्रति ध्वनित होरहाथा वह स्थल चिता की अग्नि में निक्षेपण किये स्याम केश समूह के संयोग से निःसरती धूम की गंध से पलायमान स्वानों से अच्छा दित था उस स्मशान के किसी स्थल में उत्कट पवन कर प्रेरित चिता की भस्म उड़ रहीथी किसी स्थल में भग्न भाजन और मृतमनुष्यों के कपाल पड़े हुए थे उस भयवान् स्थान प्रति इंद्र, चंद्र और नागेंद्रों के समूह कर स्तुति योग्य मुनि, अर्यका, श्रावक और श्राविका एवं चतुर्विध संघ सहितें श्री सुदत्त नामक आचार्य प्रासुक और पवित्र शिलाओं पर तिष्टे । वह मुनि संघ जीवों की दयामें तत्पर महा तपश्चरण करते शरीर का शोषण करताथा ।

प्राकृतमूल

पालियजिणदिक्खहगच्छहुभिक्खहेभणिवि णवेवि णियच्छीउ
तहि गुरुपरमेसरु हयवम्मिसरु खुल्लय जुयले पुच्छीउ ॥

संस्कृत छाया

पालितजिन दीक्षेनगच्छावःभिक्षार्थंभणित्वानत्वा निरीक्षतः।
तत्र गुरुं परमेश्वरं हतमन्मथसरः क्षुल्लक युगलः पृष्ट्वा ॥

मूलार्थ

वहां स्मशान स्थलमें जिनदीक्षा का प्रतिपालन करते क्षुल्लक युगलने कामदेव नाशक परम ईश्वर गुरुको देख नमस्कार कर उनसे पूछकर भिक्षा के अर्थ गमन करते भये।

संस्कृत टीकार्थ

वह क्षुल्लक युगल! बिविध लक्षण युक्त गात्र, प्रहर्षित बदन, कमलदलनेत्र, जिन चरणोंका भक्त, विषयोंसे विरक्त पाप मल और मदकर त्यक्त, जैन धर्ममें पूर्ण आशक्त, निज गुणोंसे महान्, निज शरीरकी क्रांतिसे दिवाकरको आच्छादित करता, करमें पात्र धारण करता, मदचक्रका बिजयिता, नगर प्रति गमन करने लगे उस समय निर्मल और तीक्ष्ण खड्ग हाथ में लिये पाप कर्म में तत्पर चंडकर्मा किंकरों ने बालबय क्षुल्लक युगलको देख निज मस्तक धुनते इस प्रकार कहा।

किंकर—अहो हो हे बाल युगल! खड़े रहो तुम्हारा मिलना अति कष्टसाध्यथा सो सहजमें मिल गए ऐसा कह कर क्षुल्लक के निकट पहुंच गए वहां दुःख नाशक, पाप विघातक, सुंदर गात्र और लावण्य पूरित शरीर क्षुल्लक कोदेख चंडकर्मा परस्पर वार्त्तालाप करने लगे।

एक—भ्रात! सत्य कहना यदि लोक में खोज करते तो भी कहीं ऐसा रूपवान् युगल मिल सकताथा? कदापि नहीं

दूसरा—मित्रवर! इस के लेचलने से महाराज पारितोषिक तो अवश्य देहींगे भाई इस के हस्तपाद कैसे सुकोमल हैं, इस का सौम्य बदन कैसा हृदय ग्राही है, अब शीघ्र लेकर चलो बिलंब का समय नहीं।

तीसरा—भई देखो तो सही हम तुमने इन को घेर भी लियाहै परन्तु मुख मंडल पर किंचित् भी म्लानता नहीं दीखती

अन्य—भाई तुम भी निरे मूर्खही हो कहीं धैर्यवानोंका बिपत्ति में कभी म्लान मुख होता है ? कदापि नहीं ।

अन्य—अरे भाई तुम सबके सब उत्तम श्रेणीके मूर्खहो क्योंकि जैसे तैसे तो इप्सित वस्तुका लाभ हुआ तिसपर भी अपनी २ गप्प हांक रहे हो और व्यर्थ विलंब करतेहो अब इसे शीघ्रतर चंडिकाके मन्दिर प्रति ले चलो ।

इस प्रकार समस्त किंकर चुल्लक युगलको घेरकर पशु कुल कलित और स्त्रियोंके नृत्यसे पूर्ण पृथ्वीके तिलक सदृश चांडिकाके मन्दिर प्रति ले गए ।

प्राकृतमूलार्थं ।

इय तेहिं भरोप्पणु, भिउडिकरेप्पिणु, सयणु, किरणमाला फुरिंत ।
तं सिसु जुयलुल्लउ तिहुअण भल्लउ रूसिवि करपल्लवि धरिउ ॥

संस्कृत छाया ।

इति तैः भणित्वा भृकुटिविक्षेपंकृत्वा स्वतनुकिरणमालास्फुरिंत ।
तं शिशुयुगलं त्रिभुवनचन्द्रं रुद्धाः करपल्लवे धृत ॥

मूलार्थ ।

इस प्रकार रुद्धभाव युक्त किंकरोंने भृकुटीके विक्षेपसे वचन कहकर अपने शरीर की किरण मालाकर स्फुरायमान त्रिभुवन के चंद्रमा बाल युगल [चुल्लक युगल] को निजकर पल्लव में धारण किया ।

संस्कृत टीकार्थ

जिससमय चंडकर्मा किंकरोंने क्षुल्लक और चुल्लकी कोहाथ से पकड़कर मनुष्योंकोभयकारकमस्तक छेदनेका शब्दोच्चार किया उसेश्रवणकरमदनाबिजेता अभय कुमार नामक चुल्लक महाराजनेपुण्यफलकीलतानिजभगिनीकोइसप्रकारसंबोधनकिया

क्षुल्लक—भगिनी ! इस अवसर में मरण की शंका कर किंचित् भी भय न करना किंतु भगवान् वीतराग अरिहंत देव को निज हृदय पंकज में स्थापन कर इस प्रकार विचार कर कि पूर्व भवों में जो अशुभ कर्मों का संचय किया है उसके उदय से शारीरिक कष्ट अवश्य होता है इस कारण कोई भी मेरे शरीर का छेदन मर्म का भेदन करो मेरे गात्रसे रस मज्जा, वसा, और रुधिर का पान करो, मांस का भक्षण करो ग्रीवा भग्न करो परंतु चिरकाल से जो शांति भाव का अभ्यास किया है उसी के अनुसार चित्तको शांति करो ऐसा करने वाले मुनिजन अष्ट गुण वशिष्ट देव पर्याय को प्राप्त होजाता है कन्ये कोई रौद्र नृप तथा क्षुद्र किंकर यदि हमारे पौद्गलिक शरीर का घात करें तो करो किन्तु ज्ञानपूर्वक हमारे आत्मा का घात नहीं करसकते इस अवसर में जैन धर्मकेही शरण का अनुसरण करना योग्य है।

इस प्रकार जिन भ्राता क्षुल्लक के उपदेश पूर्ण वचन सुन कर वह चंद्रमुखी क्षुल्लकी इस प्रकार कहने लगी।

क्षुल्लकी—भ्रातृवर ! आपने जो जिन सूत्रानुसार निर्मल और पवित्र उपदेश किया वह सर्वथा योग्य है मैने आपके कथन से पूर्वही यह विचार कर रक्खा है कि मेरे इस नाश-वान शरीर का कोई भी घात करो किंतु मैं जिन जीवितव्य को जीर्ण तिन समान गिनती हूं मैने चिरकाल से जो उप-शम का अभ्यास किया है उसी को जिन हृदय में धारणकर कर्मोदय के फल का भोग करूंगी।

प्राकृत मूल

इयवेविचवतई जिणसुमरंतइ कउल कुटंवाणंदिरहो।
पकल्या इकहिं जमलल्लकहि णियंतिसुणि मंदिरहो॥

संस्कृत छाया

इति द्वौऽपि जल्पायंतौ जिनं स्मरंतौ
कपालि कुटं वानंद कारकं मंदिरं ।
कठोर पादातिभिः यमवत् रौद्रैः
नीतौ त्रिसूलिनी मंदिरं ॥

मूलार्थ

इस उपरोक्त प्रकार भागिनी भ्रात (क्षुल्लकी- क्षुल्लक) परस्पर वार्त्तालाप करते जिनेंद्र का स्मरण करते दोनों यम-राज समान रौद्र पादातियों द्वारा भैरवानंदके कुटंबको आनंद कारक कात्यायिनी देवीके मंदिर प्राति प्राप्त किये—

संस्कृत टीकार्थ

जिस मंदिरमें वह भैरवाचार्य महा ध्वनि करता, धनुष उठाता, लोह दंड को घुमाता, लंबमान मयूर पुच्छ के गुच्छों कर सुशोभित बस्त्रों को और लोह पीतल के आभरणों को धारण करता, कटिमें बस्त्र लपेटे हाथमें तीक्ष्ण छुरि को लिये निज गुरु के भाव को प्रगट करता, अपना महत्व दिखाता समस्त अंगमें मृग चर्म लपेटे पगों और कटि भागमें बंधे हुए घुंघुरुओं से झनकार और थप थप शब्द करता और निज केशों को खोलें हुय पिशाच समान अष्टांग बिभ्रत भ्रमणसे पूर्ण मांस भक्षी सदृश, चंडिका के चरित्रका गाण करता, नृत्य करता, अपूर्व दृश्य बना रहा था उसी समय चंडिका निवाशमें आरक्त नेत्रा भयानक गात्रा योगिनी शाकिनी और डाकिनियों के समूह मुखमें मस्तक खंड धारण किये नृत्य करतीथी वह देवी ग्रह पशुओं के रुधिर से सींचा, प-शुओं के अस्थियों की वंदन-माला लटकती, पशु की जिह्वा

मयपात्रसे पूजन विशेष होता, पशुओं की वसा (चर्बी) कर पूर्ण दीपक का प्रकाश होता, और पशुचर्मके चंदोवासे व्याप्त था इत्यादि अपूर्व दृश्य युक्त देवीग्रहमें योगिनी अनेक क्रीड़ा करती महा भयानक दृश्य दिखा रहींथीं ।

प्राकृत ।

सीहुव करितासणु दाढ़ाभिसणु मेहुवि वज्जुविराइयउ ।
दंत्तिव दंतग्गिं उग्गय खग्गीं सहु अणरणहु पलोयउ ॥

संस्कृत छाया

सिंह इव कृतासनः दंष्ट्रया भीषणः मेघइव विद्युत् विराजितः ।
दंतीव दंताग्रेण उद्गतखङ्गेन सहितः नरनाथः पलोकितः ॥

मूलार्थ

सिंहकी भांति आसन लगाए डाढ़से भयानक, मेघमें विद्युत सदृश सुशोभित, गजराज सदृश दंतोंके अग्रभाग कर उग्र खड्ग सहित और मांस लोलुप नरनाथ (राजा) उस देवी ग्रहमें विराजमान था ।

संस्कृत टीकार्थ

देवी ग्रहमें स्थित महाराज मारिदत्तने सभागत शांति मुद्रा युक्त अभय रुचि कुमार क्षुल्लक और चन्द्रमुखी क्षुल्लकीका अवलोकनकर खड़े होकर हाथ जोड़ इस प्रकार शब्दोद्धार किया ।

नृपति—श्रीमान् क्षुल्लक महाराज और क्षुल्लकीजी को सविनय नमस्कार हो ।

क्षुल्लक-युगल-भो शुद्धवंशकी लक्ष्मीरूप कमलनी के हंस, भो राज राजेश, भो गुण श्रेणि युक्त योगिराट, भो स्नेह पूर्णदाता, भो फलयुक्त वृक्षवत् नम्र, भो कलाकुल कलित

कलाधर, भो जल पूरित समुद्र तुल्य गंभीर, भो राजन् आप को धर्म बृद्धि हो।

इस प्रकार पूर्ण निशाकर तुल्य बाल युगलका शांति पूर्ण आशीर्वाद श्रवणकर महाराज मारिदत्तके हृदयका समस्त रोष बिसर्जन हो गया, उस समय महाराज निज हृदय में बिचारने लगा अहा हा क्याही अनोपम रूप विधाता ने निर्मापित किया धन्यहै यह सरल सुकोमल अंगुली और दीप्यमान आरक्त नखोंसे पूर्ण हस्त पाद युगल गुंफमान और सुगोल जानु, कदलीवत् जंघा, सिंहकटिको लज्जित करता कटिभाग, गंभीर और दक्षिणा वर्त्तनाभि युक्त कृश उदर, उन्नत और बिस्तीर्ण बक्षस्थल, रेखात्रय युक्त संखवत् पुष्ट ग्रीवा, पूर्ण निशाकर तुल्य बदन, आरक्त कमल तुल्य नेत्र युगल, लंबमान दीर्घ कर्ण बिंबाफल सदृश रक्त अधर, शुकनाशावत् नाशिका, कुटिल भृकुटी, उन्नक कपोल, अर्द्ध चन्द्र सदृश राजपट्ट योग्य उन्नत ललाट, और भ्रमरवत् स्याम केशावली युक्त उत्तम गात्र क्याही अपूर्व शोभा सहित शोभमान हो रहा है इत्यादि और भी महाराज मारिदत्त बिचार करनें लगे।

प्राकृतमून।

कहिं आयइ वालइ णिरु सोमालइ हा खलविंहिसय सुयण सुहु।
एएन समुद्दे समउ समुद्दे रायहि भुत्त किण वसुह ॥

संस्कृत छाया।

कुत्र आगतौ वालौ निश्चयेन
सुकुमालौ हा खल विधे हा हत सुजन सुखें।
रातेन सामुद्रकेन समुद्रेन सहितौ
एताभ्यां भुक्ता किंन वसुधा ॥

मूलार्थ

हा ! दुष्ट विधाता ये दोनों सुकुमार बालक कहां आ गए क्या सामुद्रक के अनुसार इन्होंने स्वजनोंके सुखका जो त्याग किया सो समुद्रपर्यंत पृथ्वीका भोग क्यों न किया।

सं० टीकार्थ।

ये दोनों बालक आनंद युक्त, प्रशंसा योग्य, विद्याधरों के इंद्र, अथवा नागेंद्र पाताल भेदकर आए हैं या इस मध्य लोक की लक्ष्मीको देखने के अर्थ स्वर्गपुर से सुरेंद्र या प्रभाघन चंद्रमा आया है अथवा बालक का वेष धारण कर मुरारि महादेव और कामदेव इन में से कोई आए हैं या परिग्रह भंग और लिंग रहित कोई अन्य देव है या अव्यक्त रूप धारण कर धृति, धैर्य, क्रांति, कीर्ति, लक्ष्मी, शांति, शक्ति; बुद्धि और सिद्धिकी पृथ्वी है वा यशका स्थान, गुणों की श्रेणी, दुःख नाशक कवियोंकी वाणी, और पुण्य की भूमि हैं यह उपशांत वदन शांति मूर्ति चंडमारी देवी ही क्या मनुष्यका रूप धारण कर मेरी भक्ति की परीक्षा करने को यहां आई है अथवा मेरे कोई सम्बन्धी दीक्षा ग्रहण कर संसार के अंत करने को यहां उपस्थित हुए हैं इत्यादि चिंतवन करते महाराज मारिदत्त ने पुनः प्रगट रूप से क्षुल्लक से प्रश्न किया।

महाराज—अहो महानुभाव ! आप कौन हैं क्या राज्य भ्रष्ट होकर शत्रुओंके भय से नगर तज भागते हुए यहां आए हो ? या कहीं के राजपुत्र हो जो रुष्ट होकर गुप्त रीति से वेष पलट यहां उपस्थित हुए हो और यह शांति मूर्ति महारूपवती कुलानंद दायिनी कन्या किसकी पुत्री है अहो

इस बाल्यावस्था में व्रत पूर्वक दीक्षा पर घर भिक्षा और महान् गुणों की परीक्षा एवं एक से एक अद्भुत दृष्टिगत होता है इत्यादि कहते हुए और भी कहने लगे—

मूल प्राकृत

अम्हार उं पुरवरु छुहपंकियघरूं किं आयउ कुमरि सहु ।
भणु दुरियखयं करु सवण सुहंकरु सकहंतरु भोकुमरसुहु ॥

संस्कृत छाया

अस्माकंपुरवरंशुद्धोपिकीर्त्तिगृहंकिम् आगतः कुमार्याःसाहितः
भणदुरितक्षयंकरं श्रवणः सुखकरं स्वकथांतरं भोकुमारः महथं

सूत्रार्थ

भो कुमार ! भो मुने !! इस हमारे शुद्ध और कीर्ति गृह श्रेष्ठ नगरमें इस कुमारी सहित आप किस प्रकार पधारे यह अपना पाप नाशक और सुखदायक कथांतर प्रति पादन कीजिये।

संस्कृत टीकार्थ

महाराज मारिदत्त के इस प्रकार बचन सुनकर नृपतिके हर्षोत्पादक क्षुल्लक महाराज इस प्रकार कहने लगे।

क्षुल्लक—राजन् ! जैसे अंधे के आगे नृत्य, बधिरके सन्मुख उत्तम गान, ऊसर खेत में बीजका बोना, नपुंसक पुरुष प्रति तरुणबाला के कटाक्षों का निक्षेपन, लवण रहित विविध प्रकार व्यंजन, अज्ञानियोंमें तीव्र तप का आचरण, निर्बल की शरण सुभ ध्यान रहित किन्तु अति रौद्र सहित पुरुषके समाधि मरण, निर्धन का नव यौवन कृपणका धन संचय करन, निःस्नेहीमें कमिनीय कामिनी का रमण, अपात्रको दान मोहरूप धूल से धूसरित मनुष्य को धर्म का व्याख्यान, दुष्ट

स्वभावी पुरुष से गुणों का कथन, और अरण्य में रोदन जैसा वृथा है उसी प्रकार आप के सन्मुख अपना चरित्र कहना व्यर्थ है क्योंकिः—

प्राकृत मूल

जो जिणपड़िकूल हो मछयसुल हो गुरु परमागं भासइं ।
सो वयणंय सुद्धइ णं घयदुद्धइ सर्प हो ढौयं विनासइ ॥

संस्कृत छाया

यः जिनेंद्रप्रतिकूलस्य मस्तकशूलस्य गुरुः परमागम् भासते ।
स वचनानि शुद्धानि घृत दुग्धानि सर्पस्य ढौक्य विनासयाति ॥

मूलार्थ

जो गुरु मस्तकमें शूल समान जिनेंद्र के प्रतिकूल पुरुष के निकट शुद्ध वचनों द्वारा परमागम का कथन करता है वह शुद्ध घृत और दुग्ध को सर्पके मुखमें देकर उसका विनाश करता है ।

संस्कृत टीकार्थ

क्षुल्लक महाराज और भी कहने लगे कि राजन् ! जैसे मूर्छित पुरुष को शीतल जल और पवनसे सचेत किया जाता है उसी प्रकार उपशांत हृदयको धर्मोपदेश दिया जाता है परन्तु जैसे शुष्क वृक्षका सींचना व्यर्थ है उसी प्रकार अविनयीको संबोधना भी व्यर्थ है ।

नृपवर ! मेरा जो कथांतर है वह धर्म विद्या का उपदेश है वही उत्तम पुरुषोंके श्रवण और पूजन योग्य है इस कारण यदि मेरे चरित्र का श्रवण करना चाहो तो शांति चित्त होकर श्रवण करो ।

इस प्रकार अभय रुचि कुमार क्षुल्लकके वचन सुनकर उपशांत हृदय होकर महाराज मारिदत्तने भंभा, भेरी, दुंदुभि

और प्रचंड डमरुके शब्दोंका निवारणकर मनुष्योंके किलकिल कलै शब्दको भी बंद कर दिया पश्चात् हिंसाके विनोदका निराकरण कर विनय पूर्वक क्षुल्लक महाराजसे पुनः प्रार्थना करने लगे ।

मारिदत्त—हे दयापालक ! हे स्वामिन् आपकी आज्ञानुसार इस समय समस्त सभा स्तब्ध हो रहीहै श्रवणेश देखिये सर्व मनुष्य विनय युक्त आपकी वाणीके अभिलापा से कैसे बैठे हुएहैं मानो प्रवीण चित्रकारके रचे हुए चित्रहीहैं अब आप अपने चरित्रका प्रतिपादन कीजिये ।

क्षुल्लक—नृपवर यदि आपकी पूर्ण अभिलाषा है तो मैं अपना चरित्र कहता हूं उसे एकाग्र चित्तसे श्रवण करो ।

(इस प्रकार कहकर क्षुल्लक महाराज अपने चरित्रका वर्णन करने लगे)

क्षुल्लक युगलका चरित्र ।

क्षुल्लक—पृथ्वीपाल महाराज मारिदत्त दृष्ट श्रुतानुभूत रहस्य आपके सन्मुख वर्णन करता हूं अर्थात् इसी जंबूद्वीप के भरत क्षेत्रमें पृथ्वीका तिलक अवंती नामका देश है ।

प्राकृतमूल ।

णं दंतहिं गामहिं विउलारामहिं सरवरकमलहिं लच्छिसहिं ।
गलकलके ककारहिं हंसहिं मोरहिं मंडिय जेण सुहाई महिं ॥

संस्कृत छाया ।

वर्द्धमानैः ग्रामैः विपुलारामैः सरोवर कमलैः लक्ष्मी सखै ।
कंठ कल शब्दैःहंसैःमयूरैः मंडिता येन शोभते मही ॥

मूलार्थ ।

उस अवंती देश की धरा ऋद्धि संपदा कर वर्द्धमान ग्रामों

से विपुल आरामोंसे लक्ष्मी के सखा ऐसे सरोवर गत कमलों से और कंठ में है कलरव जिन के ऐसे हंस मयूरों कर शोभमान है ॥

संस्कृत टीकार्थ

अवनीश वह अवंती देश धन कण पूर्ण कृषिकारों के सुंदर ग्रहों से शोभमान है जिस देश के किसानों की स्त्रियों के सुंदर कर्ण प्रिय गीत्तों को श्रवण कर पथिक जन ऐसे विमोहित होजाते हैं कि एक पग भी गमन नहीं करसकते उस देश बासी किर्षी जनों की स्त्रियां जल पूर्ण घटों को मस्तक पर धारण कर पंक्ति बद्ध गमन करतीं कैसी दृष्टिगत होती हैं मानो जिनराज के जन्माभिषेक के अर्थ क्षीराब्धि से जल ग्रहणकर श्रेणी बद्ध गमन करतीं देवांगनाओंकी पंक्तिही है।

मूलप्राकृत ।

जहिं चुमि चुमंति केयार कीर बरकलम कणि ससुर हियसमीर
जहिं गोउलाइ पिउवेकरंति पंडुच्छदंड खंडइ चरंति ॥

संस्कृत छाया ।

यत्र चमुचमुशब्दंकरंतिकेदारेकीराः बरकलमकणसुरभितसमीरे
यत्र गोकुलानि पशु भाषां कुर्वंति इक्षुदंडखंडानि चरंति ॥

मूलार्थ ।

महीपते ! श्रेष्ट तंदुलों के कणों कर सुगंधित पवन युक्त देश में खेतों की क्यारियों में कीर [सूवा] चुम चुम शब्द करते हैं जिस देश में गौओं के समूह पशु भापा बोलते इक्षु दंड के खंडों को चरते हैं।

संस्कृत टीकार्थ ।

धरानाथ ! उस अवंती देश में गौओं के पृष्ट भाग को निज जिह्वाकर चाटते हुंकार शब्द करते वृषभों के समूह

अत्यंत मनोहर दीखते हैं जहां मंथर गमन करती और निज पुच्छ से सारस पक्षियों को उड़ाती महिषी विचरती हैं जिस देश में काहल जाति के वादित्रों के शब्द में आशक्त चित्त व्यभिचारिणी नायिका गृह कार्य को छोड़ संकेत के अर्थ वृक्षों के झुरमुट में पहुंचती है जिस देश की पतिभक्ता विरहिनी नायिका निज ग्रहों के द्वारोंपर बैठीं अपने प्राणनाथों की बाट प्रतीक्षा करतीं अत्यंत शोभतीं हैं जिस देशके पथिक जन मार्ग में दधि, दुग्ध, घृत, और तंदुल आदि उत्तम पदार्थोंका आस्वादन करते सुखपूर्वक गमन करते हैं जिस देशकी स्त्रीजन निज आवाशों के झरोकाओं में से निज चंद्रवदन को दिखा कर पथिक जनोंको मोहित करतीं हैं जिस मनोहर देशके चतुष्पद पशुगण प्रशन्न वदन होते तृणोंको छोड़ कर धान्य के खेतों में चरते हैं उसी रमणीक अवंती देश में स्वर्गपुरी समान उज्जायिनी नाम की नगरी है उस नगरी में

मूल प्राकृत।

मरगय करकलियहमहियलि घुलियहि फुरियहिहरियेमूढमयि,
बिणडिउ दुव्वासये रस बिणासये णीणिय पिंठे मंदगयी ॥

संस्कृत छाया

मरकतमणिकिरणकलितेमहीतलधुलितेस्फुरिते हरितेमूढमतिः
विंचिंत्यदूर्वाशयारस जिज्ञासया निःसरितःहस्ती पंकेनमंदगातिः

मूलार्थ

मरकत मणिकी किरणोंसे व्याप्त,स्फुरायमान हरित पृथ्वी तल में मूढ़ बुद्धी गजराज दूव (हरिततृण) की आशा से रस की इच्छा चिंतवन करता महाव्रत की प्रेरणा से मंदगति से गमन करता है अर्थात् उस नगरी के राज मार्ग में हरित

मरकत मणियां लगीहुई हैं उनमें हरित घास की आशंका उत्पन्न होने से गजराज आगे पग नहीं देते किंतु दूब के रसकी लोलुपता से उसके भक्षण की इच्छा करता खड़ा होजाता है तब महावत की प्रेरकता से गमन करता है सो मंदगति से।

संस्कृत टीकार्थ

श्री क्षुल्लक महाराज और भी कहने लगे कि राजन्! जिस उज्जयिनी नगरीके ग्रहोंमें लगी हुई चंद्रकांति मणियों की कांति आकाशमें कैसी शोभा विस्तारतीहैं मानो उच्छलती धवल कीर्त्तिही है-जिस नगरीमें पीत मणियोंके राग से लिप्त मृग लोचना योषिता केशरका तिरस्कार करती हैं क्योंकि पीतमणिकी पीतत्वसे वे स्त्री स्वयं पीतवर्ण दृष्टिगत होतीं हैं फिर केशरको क्यों अंगीकार करैं। जिस नगरीके मंदिरोंमें लगी हुई इंद्र नीलमणिकी प्रभासे व्याप्त स्त्रीजन हास्य द्वारा ज्ञात होती हैं क्योंकि इंद्र नीलमणिकी प्रभासे ऐसी श्याम दीखतींहैं जो पहिचानी नहीं जातीं किन्तु जिस समय हास्य रसमें मग्न होतीं हैं उस समय दंत पंक्ति से जानी जाती हैं जिस नगरीमें चिरकालसे परदेश प्रति गएहैं पति जिनके ऐसी प्रोषिता नायिका प्रात समय अमल मंडल मुखको मणियोंकी भीत्तिमें देखती म्लान मुख हो जाती हैं क्योंकि भर्त्तार बिना हमारे मुख मंडलको कौन देखेगा इससे यह हमारा शृंगारही व्यर्थ है जहां बालकों को अंकमें लेकर मणियोंकी भीतिमें दिखातेहैं सो वे बालक अपने प्रति बिंबको देख अन्य बालककी शंकाकर हाथकी शयनसे बुलाते कैसे अच्छे मालूम होते हैं नृपवर! जहां

के ग्रहों में रत्न और मुक्ताफलोंकी रंगावलीके; चहुं ओर सुगंधित पुष्पोंकी क्यारी कैसी अनुठी शोभा विस्तारि रही हैं उस नगरीके निवाशीजन अन्य जनोंको सुखाश्रित करते आप वृद्धि रूप हो रहेहैं उस नगरके समस्त जीव चौर मरी आदिके उपद्रवसे रहित निःशंक शयन करते हैं जिस नगरीके राज मार्गमें गमन करते मदोन्मत्त गजोंके मदसे कर्दम हो रहीहै जहां अनेक प्रकारके शतशः वाजार हैं तिनमें सहस्र दुकानें अपनी शोभा विस्तारती कैसी अच्छी पंक्ति रूप दृष्टिगत होती है जहांके राज मार्ग पथिकोंके मुखसे पड़े हुए तांवूलके रससे कहीं रक्त वर्ण दृष्टिगत होताहै कोई स्थान गमन करती गजगमनी कामनियोंके पड़े हुए रत्नाभरणों कर चित्र विचत्र हो रहा है कोई स्थल कर्पूरकी धूलिसे शुभ्रवर्ण सुगंध युक्त हो रहा है कोई स्थल मृग नाभिकी सुगंध में लुब्ध भ्रमरोंके समूह से स्याम हो रहा है-राजन् उस महा नगरीका वर्णन कहां तक किया जाय जहां का यशोर्ध नामका महा प्रतापी राजा हुआ।

प्राकृत।

जहि णरवइ णाएं मंति उवाए ववहारूवि सच्चे वहइ।
कुलु कुलवहु सोयं पुरुसिवि अत्थें अत्थुवि जहिं दाणें सहई॥

संस्कृत छाया

यत्र नरपतिः न्यायेन मन्त्री
व्यवहारःअपि सत्येन वहति।
कुलं कुलवधू संघातेन पुरुषः
अपि अर्थेन अर्थः अपि यत्र दानेन शोभते॥

मूलार्थ

जहांका यशोर्ध नामक नृपति न्यायकर राजा प्रयत्न से मंत्री और सत्यसे व्यवहार धारता भया जहां कुलवधू के समूहसे कुल धनसे पुरुषार्थ और दान से द्रव्य शोभता था।

संस्कृतटीकार्थ।

वह क्षत्री धर्मका पुंज- यशोर्ध नामका महापति योव नावस्था में आरुढ़- कैसा शोभताथा मानों गुणोंका मिलाय वा तपका प्रभाव-वा पुन्यका पुंज वा कलाका समूह-वा कुल का भूषण-वा यशका निधान-न्यायका मार्ग-और जगतका सूर्य ही हो वह प्रजापालक पापग्रह रहित पुरुषोंके शुद्ध करनेमें मणि दीन अनाथोंको चिंतामणि शत्रुरूप पर्वतके चूर्ण करने को वज्रपात और मंडलीके राजाओंके मुकटोंमें चूड़ामणि समान शोभता भया। उस यशोर्ध नामक पृथ्वी-पालके कामकी युक्त, कामकी विद्या, कामकी शक्ति, काम की दीप्ति, कामकी कीर्त्ति कामके बाणोंकी पंक्ति और काम के हाथकी वीणा समान चंद्रमति नामकी महारानी होती भई उस महारानीके उदरसे सुकविकी बुद्धिसे काव्यार्थ की भांति यशोधर नाम का[में] पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ।

प्राकृतमूल

बहुमणिउ सयणहि भूसिउ रयणहिं हउं जोइउ जणणिये किह।
णवमयणरसिल्ले जायउफुल्ले जोवण द्रुमफलगोंत्थ जिह ॥

संस्कृत छाया।

बहुमानितः स्वजनैः भूषितः रत्नैः अहंजनितःजनन्या किमु।
नवमदनरसस्य जातपुष्पस्य यौवनद्रुमस्य फलस्तवकः यथा॥

मूलार्थ।

स्वजनों कर वह मानित और रत्नों कर भूषित मैं जननी ने उत्पन्न किया सो मानो नवीन मदनके रस का उत्पन्न हुए पुष्प का और यौवन रूप वृक्षके फलका गुच्छा ही है क्या ?

संस्कृत टीकार्थ

राजन् ! जब मैं बालअवस्था में आया तब प्रथम तो निज वय प्रमाण बालकोंके साथ गृह ही में बालक्रीड़ा करने लगा पश्चात् जब पठन योग्य हुआ तब हमारे माता पिताओं ने मुझे योग्य अध्यापकके निकट इस प्रकार स्थापन किया मानों स्ववश आत्मा को अभीष्ट विनयमें ही स्थापन किया वहां प्रथमतो वर्णमात्रादि क्रम का शिक्षण प्राप्तकर पश्चात् क्रम पूर्वक व्याकर्ण, कोष, न्याय, काव्य, छंद, अलंकार में निपुण हुआ पश्चात् मैं ने ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक का अभ्यास किया तदनंतर गान विद्या तथा नवरस युक्त नृत्यकला और वादित्र बजावने की विद्या में भी जब प्रवीण होगया तब रत्न परीक्षा, गजराज, घोटक, वृषभ आदि पशुओंकी परीक्षा के शास्त्रोंका मनन किया पश्चात् फल, पुष्प पत्रादि छेदन का अंतर शील बढकर्म, चित्र लेखन और काष्ठकर्म में भी अभ्यस्त होगया तदनंतर गज घोटक आदिक आरोहण, धनुष विद्या, युद्ध कला, मल्ल विद्या जल तरण आदि अनेक कलाओं में प्रवीण हुआ, धरानाथ जिस समय मैं ने लावण्यरूप जल से सींची हुई तरुणता में पदार्पण किया उस समय यद्यपि अंग सहित था तथापि अनग (कामदेव) सदृश दृष्टिगत होता था जब मेरे पिता

ने मुझे पुष्टिगात्र देखा तब रूप लावण्य की सरिता समान पांच राज पुत्रियोंके साथ मेरा पाणिग्रहण कराया मैं भी सुख सागरमें ऐसा मग्न हुआ कि व्यतीत हुए समयको किंचित भी न जाना तदनंतर मेरे पिता वैराग्य अवस्था को प्राप्त हुए।

प्राकृत मूल

ससहरकिरणुज्जलु पेक्खेविकुंतलु चिंतिउ रइसवत्तिमहणु ।
दोहग्गाहरासिये महु जरदासिये किंकिउ केशगाहणु ॥

संस्कृत छाया

शशिधरकिरणोज्वलं प्रेक्ष्य कुंतलंचिंतितं रतिसपत्निमथनं ।
दुर्भाग्यराश्या मम जरादाश्या हा किं कृतं केश गृहणं ॥

मूलार्थ

यशोधं महाराज ! चंद्रमा की किरण समान उज्वल केश को देख चिंतवन करने लगे हा कष्ट ! रति की सपत्नी को मथनेवाली और दुर्भाग्यकी राशि एवं जरा दासीने क्या मेरे केश का ग्रहण कर लिया।

संस्कृतटीकार्थ

अथवा यह शुभ्रकेश उत्कट और दुष्ट कालाग्नि द्वारा भस्म हुए तारुण्य रूप वन की भस्मका कणिका है यही पलित केश मेरी वृद्धावस्था का सूचक है इस वृद्धावस्था में जो मुख से बहती हुई लाल ऐसा जानती है मानों पुरुष के शरीर से शक्ति ही लारका रूप धारण कर निकल रही है तथा वृद्ध के मुख से जो दंत पंक्ति पड़ती है सो मानों पापोदय से पुन्यकी सृष्टि हीपड़ रही है इस वृद्धावस्था में कामिनी की गति समान मंद दृष्टि होजाती है उस समय

हाथ में यष्टि का [लाठी] स्थिर नहीं रहती सो सत्यही है कि नवीन आई हुई जरारूप वनिता के संसर्ग से यष्टि का रूप स्त्री किस प्रकार ठहर सकती है, इस जरावस्था में कुकविकी काव्यकी भांति पगभी नहीं चलते अर्थात् जैसे कुकविकी काव्य के पद नहीं चलते उसी प्रकार वृद्ध पुरुष के पाद भी नहीं चल सकते वृद्ध पुरुष के शरीर से जो लावण्यता विसर्जन हो जाती है ऐसी ज्ञात होती है मानों जरा रूप सरिता की अभंग तरंगों से धोया हुआ है इत्यादि चिंतवन कर यशोर्ध महाराज और क्या विचारने लगे।

मूल प्राकृत

सत्तावरज्जंगइ तणुअट्ठंगइ कासुवि भुयणि ण सासई।
तउ चरमि अहंगइं दहधम्मंगइ पालाम पंच महव्वयई॥

संस्कृत छाया

सप्तअपिराज्यांगानितनुः अष्टांगानिकस्यापिभुवनेनसास्वतानि
तपश्चरामिअभंगानि दशधर्मांगानि पालयामिपंचमहाव्रतानि॥

मूलार्थ।

देश, कोष, शास्त्र, सेना, अमात्य, गढ़, और मित्र एवं सप्त अंग राज्यके तथा दोहस्त, दोपग, नितंव, कूला, पृष्टि, और मस्तक एवं अष्ट अंग शरीरके किसीके भी भुवनमें सास्वते स्थिर नहीं रहते इस कारण, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य एवं दशधा धर्मका पालन करता हूं तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग एवं पंच महाव्रतों को आचरण करता हूं।

संस्कृतटीकार्थ।

महाराज यशोर्ध और भी चिंतवन करने लगे कि मैंने अपनी अज्ञानतासे विषय भोगों में मग्न होकर निज कुटुंबियों के स्नेहमें तल्लीन होकर इतना समय व्यर्थ किया मैं ने इस बात का किंचित भी विचार न किया कि ये पंचेंद्रियों के विषय विप मिश्रित मिष्टान्न की भांति प्राण घातक और कुगतिमें लेजाकर अनेक दुःखों का पात्र बनाते हैं इसके शिवाय मैंने इसकाभी विचार न किया कि ये पुत्र मित्र कालित्र आदि समस्त कुटुंब समूह स्वार्थ परायण हैं, परंतु इनके स्नेह में आकर उचित का विचार न करता पाप कार्यों में तत्पर होरहा था पर अब सर्व कार्यों का त्याग कर जिन दीक्षा ग्रहण कर महा तपश्चरण कर संसार भ्रमण से निर्वृत्तिहो-जाउंगा. इत्यादि विचार कर महाराज यशोर्धनें समस्त राज कर्म चारियों को बुलाकर निज आंतरिक रहस्य सुनाया उस समय समस्त कर्मचारी गण यद्यपि निज हृदय में अतीव दुःखित हुए परंतु महाराजको दृढ़ प्रतिज्ञ देखकर किंचित् भी कहने का साहस न किया किंतु महाराज की आज्ञानुसार समस्त सामिग्री एकत्रित की पश्चात् यशोधर नामक पुत्र (मेरे पूर्व भवका जीव) को बुलाकर राज्य तिलकका प्रयत्न करने लगे।

मूल प्राकृत

इय भणिवि मज्झ किउ पट्टवंधु णंवंधु सहा सहणेवंधु।
णं दीणहं चामी यरणिवंधु णं परणार णाहं वाहुवंधु॥

संस्कृत छाया

इति भणित्वा मम कृतः पट्टवंधः इव वंधुभिः सह सस्नेहवंधः।
इव दीना नाम् चामी कर निवंधः इव परनरनार्यानाम् वाहुवंधं।

मूलार्थ

यशोर्ध महाराज ने इस प्रकार कहकर मेरे राज्य पट्ट बांधा सो मानो बंधुओं सहित स्नेह बंध ही किया तथा अन्य नरेशों का बाहुबंध किया सोमानो दीन जनों को चामी कर का निबंध ही किया।

संस्कृत टीकार्थ

क्षुल्लक महाराज कहने लगे कि राजन्! मेरे पिता अर्थात् यशोर्ध महाराज नें जिस समय मेरे करमें राज्य पट्टबांधा उसी समय समस्त अन्य राजाओं के भी बाहुबंध कर उन के हाथ से मेरा करग्रहण कराकर कहाकि इस विस्तृ राज की लज्जा आप लोगों कोहै इत्यादि कहकर आप जैन पथके पथिक बनकर बनप्राति गमन कर जैनाचार्य के निकट जैने श्वरी दीक्षा धारते भए।

राजन्। मेरे पिता तो काम रूपके मदके विघातक होते महा तपश्चरण करते शिव राज्य के अर्थ प्रयत्न करने लगे और मैने वृद्ध मंत्रियों की सहायता से आन्वी क्षिणी राज विद्या द्वारा इंद्रिय विजयी आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया त्रयीवार्त्ता नाम की विद्या से ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, और शूद्र एवं चारो वर्णोंके आचार बिचारजानें दंडनीति नामकी विद्या से खोटे मद युक्त दुष्टों के योग्य दंडका स्वरूप ज्ञात किया और वार्ता नाम की विद्या से धनादि संचय की रीति नीति का शिक्षण प्राप्त किया।

तदनंतर— लोक नीतिज्ञ और धर्मज्ञ वृद्ध पुरुषोंके संसर्ग से

क्षुल्लक पूर्व भव में यशोधर राजा था इस कारण यशोधर के नाम पर अपना नाम कहने में आता है॥

द्यूत, मांस सुरा, वेश्या, खेट, चौर और परांगना एवं सप्त विशन का परित्याग कर क्रोध, मोह, मान, आदि कर्मों को विसर्जित किया नृपवर । उस समयमें । यद्यपि काम विनोद का नाममात्र सेवन करताथा तथापि हर्षोत्पादक अंगोंसे निश्चित दूर रहता था किंतु मंत्रियों द्वारा विग्रह, याण, आसान आश्रय आदि राज्य के अंगो का ज्ञान जिस काल मेरे हृदय में स्फुरायमान होने लगा उसी समय से भृत्य समूह कंपित गात्र होते निज कार्योंमें तत्पर होने लगेजे मुझ से भयभीत थे वे नगर ग्रामें का निवाश छोड़ अरणयों में बास करनें लगे जे दुष्ट मंत्रियों के वहकाए हुए नृप गणारणां गण में युद्ध के सन्मुख हुए वे चंचला विद्युत सदृश बिलुप्त होगए और जे नम्र धराधीस थे वे सुख पूर्वक निज जीवितव्य व्यतीत करने लगे ॥

मूल प्राकृत

आहवे दुव्वारए असिवरधारए परमंडलवइ तज्जिय ।
तेएण महंते दिच्छिपरसंते पुष्फयंत मई निज्जिय ॥

संस्कृत छाया ।

संग्रामें दुर्वारया असिधारया परमंडल पतयः तर्जिताः ।
तेजसा महता दिशि प्रशरता पुष्पदंतोमया निर्जितौ ॥

मूलार्थ

नृपवर ! रणांगणमें दुर्निवार तलवारकी धार से परमंडल के राजाओंका मैंने तर्जन किया और दिशाओंमें फैलते हुए अपने तेजसे सूर्य और चन्द्रमाका विजय किया ।

संस्कृत टीकार्थ

पृथ्वीनाथ ! यह तो आप भी जानते हैं कि जो प्रतपा

वान् और राज कार्यका नेता नृप होता है वही नरेश स्व-राज्यका रक्षक और प्रजाका पालक होता है मैं भी उस समय न्याय पूर्वक राज्य करता स्वजन और परजनों में प्रतिष्ठा पात्र बना हुआ सुख पूर्वक काल व्यतीत करता था इत्यादि।

इति श्री महामात्य नन्हकरणाभरण महा कवि पुष्पदंतविरचित महाकाव्य यशोधर चरित्रे यशोधर महाराज पट्टबंधवर्णनो नामक प्रथम परिच्छेद १॥

अथ द्वितिय परिच्छेदः

प्राकृत।

कामालसु रइलालसु पेम्मपरव्वसु मत्तऊ।
हउं घरिणिहेयां करिणिहे वनकरिंदु जिह रत्तऊ॥

संस्कृत छाया॥

कामालसः रतिलालसः प्रेमपरवशः मत्तः।
अहं गृहिण्यां करिण्यां वनकरींद्रः यथा रक्तः॥

मूलार्थ

नृपवर! काममें आलसी और रतिमें लालसा युक्तमें। निज स्त्रीके प्रेमबश होता ऐसा मनोन्मत्त हुआ जैसा हास्तिनी के प्रेममें बनका गजेंद्र हो जाता है।

सं० टीकार्थ।

राजन् वे राजा यशोधर निज स्त्रीके प्रेममें आशक्त चित्त होते निज हृदयमें क्या बिचारने लगे कि स्वच्छमति हंसगति मेरी प्रियभार्या अमृतमती मेरे हृदय में वास करती नेत्रके टमकार मात्र बिरहसे बिकल हो जातीहै तो मैं भी उस प्रिया सहित भोग भोगूंगा अब चाहे नृप पूज्य

राज्य नष्ट हो जाउ चाहे लक्ष्मी पर वज्रपात होउ और चाहे लज्जा भी नष्ट हो जाउ परंतु उस हृदय वासिनीसे एक क्षण मात्र भी पृथक् न होऊंगा नहीं ! नहीं !! ऐसा नहीं करूंगा किंतु गुणोंके समूहकर युक्त और यश तथा जय के धाम यशोमति नामक निज पुत्रको राज्य सिंहासन पर स्थापन कर राज्य भार उसीको समर्पण कर पश्चात् इष्ट प्राप्तिके हेतु अमृतमती के गृह प्रति जाकर उस प्रिय तमा सहित विलास करूंगा और उसीके साथ इप्सित भोजन भी करूंगा उस सुकोमल क्षीणगात्रा मनोहर मुखी प्रियसहित निर्जन वनका भी वास उत्तम, समस्त सुखोंका कारण, और लक्ष्मीका विलास है किंतु प्रियतमा विना स्वर्गका वास भी अच्छा नहीं इत्यादि और भी अनेक विचार करने लगे पश्चात् ।

प्राकृतमूल ।

तद दिणयरु पसरियकरु अत्य हो उप्परि रत्तउ ।
थिउ दीसइ किं सीसइ अत्थु केन परिचत्तउ ॥

संस्कृत छाया ।

ततःदिनकरः प्रसारितकरः अस्तस्य उपरि रक्तः ।
स्थितः दृश्यते किं शिक्षते अर्थः केन परित्यक्तः ॥

मूलार्थ ।

तदुपरांत प्रसारित किरण दिवानाथ अस्ताचल के उपरि स्थित हुआ रक्तवर्ण दीखने लगा सो मानों वह शिक्षा ही देताहै कि अर्थ रहित पुरुप रक्तवर्ण दृष्टिगत होजाताहै ।

संस्कृत टीकार्थ

क्षुल्लक महाराज पुनः कहने लगे कि महाराज मारि-

दत्त जिस समय यशोधर महाराज उपरोक्त विचार करते थे इतने में संध्या समय होने लगा उस समय दिवानाथ के अस्त होने से दिशारूप स्त्री रक्तरूप वस्त्र धारती हुई जैसे महा योधा रणांगण में शस्त्रों के प्रहार से तप्त होकर पुनः पतन अवस्था को प्राप्त होजाताहै उसी प्रकार सूर्य भी अष्ट प्रहर तापित होकर अस्त दिशाको प्राप्त होता भया पश्चात् जगत् मंडफमें तारारूप पुष्पों और चंद्रमारूप फलकर नम्री-भूत होती संध्या रूप वल्लरी दिशाओं प्रति प्रसरित होने लगी। सूर्यास्त समय जो अंधकार का फैलाव हुआ था वह चंद्र किरणों के विस्तार से नष्ट होने लगा आकाश मंडल में उदय होता शीतरश्मि लोकों की दृष्टिमें कैसा भासने लगा मानों अंधकार के समूह का खंडन करनेवाला चक्र अथवा इंद्र की लक्ष्मी के मुखका मंडनही है वह प्रकाश मूर्ति निशा-पति गगनांगण में प्रकाश करता कैसा ज्ञात होता था मानों कीर्तिरूप बनिताका मुख मंडल अथवा जननी को सुख देनेवाला अमृत का भवन या परमात्मा के यशका पुंज तथा सुरेश्वर के मस्तक का श्वभ्रछत्र और रात्रिरूपी नायिकाके ललाट का तिलक ही है वह चंद्रोदय यद्यपि समस्त लोक को आल्हाद कारक और शांति कर्त्ता होता है परन्तु पति विहोना विरहिणी और जाररक्ता व्यभिचारिणी स्त्रियों को संताप कारी होने लगा वह आकाश रूप क्षेत्र (खेत) में उदय होता निशाकर कुटुंबी (किशान) की भांति अ-त्यंत शोभता भया क्योंकि आकाश नक्षत्रों कर व्याप्त है और खेत धान्यके कणों से पूर्ण है आकाश में मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ

और मीन एवं द्वादशराशियें सुशोभित होती हैं और खेतमें चंणा, गेहूं, जव, उर्द और मूंग आदि अष्टादश प्रकारके धान्यों की राशियें उन्नत दीखती है।

राजन्! चंद्रमाकी जोत्स्ना चांदनीसे व्याप्त समस्त जगत् कैसा दृष्टिगत होता था मानों रात्रिरूपा स्त्री ने चंद्रमा रूप घटसे निकसी अविछिन्ना अमृत मय दुग्ध की धारा से जगत्को शुभ्रवर्ण ही किया है उसी समय महाराज यशोधर के हृदय में निज प्रिया के मिलापकी लालसाका उत्कट उद्गम होने से द्वारपाल को आदेशित कि तुम अमृत मती महारानीके महल में जाकर सूचित करो कि महाराज पधारते हैं।

द्वारपाल-(मस्तक नवाकर) जो आज्ञा श्रीमहाराजकी मैं अभी जाकर सूचित करता हूं और वहां का समस्त प्रबंध ठीक करा देता हूं।

इस प्रकार कहकर द्वारपाल ने अमृत मती के महल में जाकर महाराज का आदेश सुना दिया पश्चात् महारानीके महलस्थ द्वारपाल ने समस्त परिकर को सीख देकर महाराज यशोधरके (मेरे) निकट आकर विज्ञप्ति करने लगा।

द्विद्वारपाल नमस्कारकर-श्रीमन्महाराजधिराजकी जयहो श्रीपृथ्वी नाथ स्वर्ग तुल्य महारानीके मंदिर प्रति पधारिये।

इस प्रकार द्वारपाल के निवेदन करने से महाराज 'मैं' तत्काल जाने को उद्यत हुए उस समय तिमिर नाशक हाथ में लिये एक सेवक आगे जाता था अनेक भृत्यगण चमर ढारते थे अनेक पुरुष मंगलीक शब्दोंसे यश गान करते जाते थे और अनेक जन खड्ग धारण किये मेरे आगे पीछे चले जाते थे इस प्रकार गमन करता मणिमय शिखर युक्त अ-

कन किया तत्पश्चात् विद्रुमकी बनी हुई पंचम भूमि ऐसी देखी मानों विधातानें मूंगाके वृक्षका जालहीं पूरदियाहै वहां मृता देवी के महल में पहुंचा उस रमणीक महल कहीं २ रत्न खचित भीतों से मनोहर दीखता था कहीं अनेक प्रकार वादित्रों की हृदय ग्राही ध्वनिसे प्रति ध्वनित होरहा था कहीं कमनीय कामिनियों के हाथ की वीणा के शब्द से झंकार हो रही थी कहीं पुष्पों की मालाओंकी सुगंधि से लुब्ध भ्रमरोंकी गुंकार ध्वनि से पूरित हो रहा था कहीं लटकती मोतियों की मालायें और रत्न खचित चित्रामोंकर अपूर्वछटा दृष्टिगत हो रही थी।

मूलप्राकृत

ताहि गछामि किर पिछामि सुद्धफालिहे आवीद्धि।
पढमुज्जल रयणुज्जल महि णं गयण विसुद्धि॥

संस्कृत छाया

तत्र गच्छामि कीरं पश्यामि शुद्धा स्फटिकविद्धा।
प्रथमा उज्वला रत्नोज्वला मही इव गगन विशुद्धिः॥

मूलार्थ

उस महल प्रति गमन कर मैं ने शुद्ध स्फटिक से जटित रत्नोज्वला नामकी प्रथम भूमि ऐसी देखी मानों विशुद्ध आकाश ही है।

संस्कृत टीकार्थ।

राजन् वहांसे गमनकर पुष्पमणिकी पेड़ियोंपर पद न्यास करता मालतीके सुमन समूहसे व्याप्त धराकी भांति मुक्ता फलोंसे जटित दूसरा खन देखा वहांसे गमनकर पद्म राग-मणि विनिर्मित तृतीय खंड देखा तदनंतर मरकतमणि और नील रत्नोंके क्रांतिके समूहसे व्याप्त चतुर्थ खंडका अवलो-

से सुवर्ण निर्मित अतीव शोभा युक्त छठे खंड प्रति पहुँच कर तत्रस्थ शुक, हंस, मयूर और मैना आदि पक्षियों के मनोहर शब्द श्रवणकर चित्त प्रसन्न किया वहांसे पद्मराग मणि और पीतरत्नों कर खचित सप्तमी धराका अवलोकन कर विधाताकी शिल्पविद्याकी प्रशंसा कीनी तत्पश्चात् वहां से भी प्रयाणकर चंद्रकांतिमणि की शिलाओं के तेज से व्याप्त गृहचक्रा नामकी अष्टमधरा प्रति पहुंच कर हृदय शांति करता भया।

मूल प्राकृत

तहि मंदिरे अइसुंदरे सत्तवि भूमिउ दिट्ठउ।
महु कंपइ एवही मइणं णरए सुपविट्ठउ॥

संस्कृत छाया।

तस्मिन् मंदिरे अति सुंदरे सप्ताः अपि भूमया दृष्टाः।
ममकंपते इदानीं मतिः इव नरके सुप्रविष्ठः॥

मूलार्थ

राजन्! जिस समय मैं ने उस अति सुंदर मंदिरमें सातोही भूमियों को देखा उस समय मेरी बुद्धि ऐसे कंपमान होने लगी मानो नरकों में ही प्रवेश किया है।

संस्कृतटीकार्थ।

नृपवर! जिस समय नरक तुल्य सप्तम भूमिके अवलोकमात्र से जैसी मेरी बुद्धि नरकोंके दुःखोंसे डरकर कंपमान हुई थी उसी प्रकार जब रत्नक्रांता गृहचक्रा नामकी अष्टम पृथ्वी प्रति पहुंचा तब अष्टमधरा (मोक्ष) प्राप्ति सदृश आनंद हुआ यद्यपि अष्ट कर्म विनिर्मुक्त होकर ही मोक्ष प्राप्त होता है परन्तु मैं कर्मों से लिप्त और पापकर्मसे वंचित होता

हुआ भी सर्वांग ग्रहणी निज प्रियाके प्रेमालिंगन की लालसा से रोमांकुरित हृदय और स्वेद पूर्णगात्र होकर आनंद में मग्न होगया ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय कामके उद्वेग से सविप सर्प की भांति प्रज्वलित होता मेरे सर्वांगमें ऐसी कंप उत्पन्न हुई कि प्रिया के मंदिरमें पहुंचना दुष्कर होगया पश्चात् यथा तथा प्रथम द्वारमें प्रवेश किया ही था कि मृदुभापिणी विनय नम्रा द्वारपाली ने मुझे देख जयकार शब्द किया तदनंतर शुभ्रझांगसे आच्छादित नवीनकमल सदृश नवीन और श्वेतवस्त्रों से आच्छादित कोमलगात्रा द्वारपाली के हाथका अवलंबन कर मैंने महलमें प्रवेश किया ।

प्रजापालक ! उस महलमें प्रवेश करते समय ही दैव ने मेरी बुद्धि का हरण कर लिया उस समय निज प्रिया के सुख की सुगंधित स्वाद युक्त वचनालापका श्रवणकर नाशिका और कर्णों को आनंदित किया उस मंजुभापिणी के अत्युत्तमरूपके अवलोकन से नेत्र तृप्ति किये उस चंद्रवदना के अधरामृत के आस्वादनसे जिह्वाको संतोपित किया और उस सुकोमलगात्रा के शरीरके स्पर्श से सर्व अंग सुखपूर्ण किया एवं पूर्णचंद्राननाके संयोग पांचों इंद्रियां संतृप्ति हुई उस समयका आनंद और हर्ष अकथनीय था

मूलप्राकृत ।

अवलोयण, संभासण, दाण, संग, वीसा सुवि ।
पिय मेलण, रयकोल्लण, जं महुंतं णं विकासुवि ॥

संस्कृत छाया

अवलोकनम् संभाषणं दानं आलिंगनं विश्वासः अपि ।

प्रियमेलनं रतिक्रीड़नं यतः मम तत् न अपि कस्यापि ॥

मूलार्थ ।

राजन् ! उस समयका अवलोकन, संभाषण, दान, आलिंगन, विश्वास, प्रियाका मिलाप और रतिक्रीड़न एवं जो अमृतादेवी के संसर्ग से मुझे प्राप्त हुआ वह किसी को भी प्राप्त न हुआ होगा ।

संस्कृत टीकार्थ

नृप श्रेष्ठ ! उस समयका हास्यरस मिश्रित कामोत्पादक मंजुभाषण, हृदयग्राही मुखका विकार, चित्ताकर्षक भाव, भृकुटी और नेत्रों के निक्षेपणरूप विभ्रम, और रतिक्रीड़ा के समय का रसास्वाद एवं अपूर्व दृश्य था ।

न्यायमूर्त्ति ! समस्त क्रीड़ासे निश्चिंत होकर जब शयनस्थ हुआ तब उस सिंहकटी, कमलदलनेत्रा, पीनोन्नतकुचा, भ्रमर विनिंदित केशा, चंद्रवदनी, गजगमनी, प्रियाके रूपका स्मरण करता नेत्रबंद किये लेटा हुआ था इतनेमें वह पर पुरुषरता मेरे भुजपंजरसे निकल शनैः२ पादविन्यास करती गमन करने लगी तत्काल मैं भी उठकर देखने लगा कि इस अर्द्धरात्रिके समय कहां जातीहै ऐसा विचारकर खड्ग हाथमें धारणकर गुप्त रीतिसे उसके पीछे गमन करता क्या देखता भया कि कूबड़ाके सन्मुख हाथ जोड़े खड़ी हुई है।

पृथ्वीनाथ ! वह कूबड़ा पुरुषार्थमें अनुद्यमी, सर्वजन निंद्य, दावानलसे दग्ध, काष्ठ, सदृशगात्र, दीर्घदांतोंसे दंतालुमुख, कर्दमके बुदबुदा समान नेत्र, अति नीचे और विषम ओष्ठ, फटेरुक्ष और कठोर हस्तपाद खप्पर समान, मांस रहित कटि, तुंबा समान उदर, सूक्ष्म और कठोर हृदय

रुक्ष केशोंसे भयानक अन्य पुरुषोंके पादत्राण (जूतों) का रक्षक हस्ति घोटकोंके बचे हुए अन्नकणों कर आजीविका जिसकी ऐसे महाकुरूप कूबड़ाने जिस समय अमृतादेवीको देखा तत्काल वक्रदृष्टिसे हुंकार शब्द करता कहने लगा रेहलोरीखले लज्जारहित दासि ! तैंने इतना विलंब क्यों किया नित्यकी भांति शीघ्र क्यों नहीं आई इत्यादि बक बक करता चाबुक हाथमें लेकर उस सालंकारा को मारने लगा तत्पश्चात् चोटी पकड़ पृथ्वीपर पछाड़ पाद प्रहार करता भया उस समय कूबड़ाके चरणोंको नमस्कार करती अमृतादेवी नम्रभावसे कहने लगी।

अमृतादेवी—स्वामिन् ! आज गृहकाजसे अवकाश न मिलनेसे नाशको प्राप्त हुई, नाथ ! आप कामदेव सदृश मेरे हृदयमें वास करते हो इस कारण आपके रुष्ट होनेसे मेरे छत्र, चमर, आसन, सतखना महल, हाथी, घोड़ा रथ प्यादे, वस्त्र, आभूषण और समुद्रांत पृथ्वीका राज्य एवं समस्त व्यर्थ है।

प्राणवल्लभ! आपके विना कुंकुमका विलेपन रत्नसुवर्ण जटित आभूषण उत्तम वहुमूल्य वस्त्र और मुक्ताहार एवं समस्तही अग्निज्वाला सदृश सर्वांगको दग्ध करते हैं हे विधाता ! तूने इसे बड़े कुलमें उत्पन्नकर मेरा भर्त्तार क्यों न बनाया और यदि ऐसा न भी किया था तो मुझे ही जीवित क्यों रक्खा।

प्रियवर ! आपके अलाममें जो दिन व्यतीत होता है उसे मैं ऐसा मानती हूं कि पूर्व संचित पापकर्मके उदय का फल आज भोग रही हूं।

इस प्रकार कूबड़ासे प्रार्थना करती अमृतादेवी पुनः कूबड़ाके चित्त प्रसन्नार्थ इस प्रकार कहने लगी।

मूल प्राकृत।

जइ जसहरु जमपुरघरु तो हंउ णच्चमि।
चइगासे महुमासे सइ कंचाइणि अच्चमि॥

संस्कृत छाया

यदि यशोधरः यमपुरगृहं प्राप्नोति तर्हिअहं नृत्यं करोमि।
चरुग्रासेन मल्लुमोस स्वयं कात्यायिनिं अर्चामि॥

मूलार्थ

यदि कदाचित् यशोधर राजा यमपुर गृह (मृत्युगृह) प्रति प्राप्त होइ तो मैं नृत्य करूंगी और चैत्रमास में नैवेद्यके ग्राससे कात्यायिनी देवी की पूजा करूंगी।

संस्कृत टीकार्थ

मारिदत्त महाराजसे क्षुल्लक महाराज कहने लगे कि राजन्! वह अमृतादेवी उपरोक्त प्रकार नम्रवचनों द्वारा निज जार कूबड़ाको संतोषितकर गाढ़ालिंगन करने लगी उस समय दोनों प्रेमी प्रेम सागरमें निमग्न होकर भय और लज्जाको यक दम भूलगए।

नृपवर! उस समय उन दोनोंकी अवस्था देखने से मेरे क्रोध की सीमा न रही तत्काल संग्रामके रुधिर का प्यासा मत्तगजेंद्रों के मस्तकोंका विदारक और विद्युत् सदृश दीप्तवान खड्ग जैसे ही म्यान से निकाल कर दोनों के मारनें को उद्यत हुआ ही था कि उसी समय चित्त में यह विचार आकर उपस्थित होगया कि जिस तीक्ष्ण खड्ग सेप्रबल वीरों की सेना का निपात किया जिस खड्ग से उन्नत मुख नृप

गणों का निवास किया जिस खड्ग से महा भयंकर सिंहों का विध्वंस किया उस खड्गसे इन दीनोंको कैसे मारूं. जो खड्ग तुमुल संग्राममें शत्रुओंके मस्तकपर पड़ा वह रंकोके मस्तक पर कैसे पड़े इत्यादि चिंतवन कर मैंने क्षमा रूप जलसे क्रोधाग्नि को शांति किया पश्चात् खड्ग म्यान में कर वहां से चलता वना अर्थात् चित्रासोंसे विचित्र महल में जाकर जिस प्रकार आयाथा उसी प्रकार गुप्तरीति से शय्या पर शयनस्थ होकर उस हृदय बासिनी चारु हासिनी दुष्टा के चरित्रों का स्मरण करनेलगा कि हा ! धिक्कार तेरी बुद्धिपर तेनें निज हृदय में किंचित् भी बिचार न किया कि कहां तो मेरा क्षत्रिय कुल और कहां यह रंकवंश कहांतो समुद्रांत पृथ्वी के पति की प्राण वल्लभा मैं और हाथी घोड़ाओं के उच्छिष्ट अन्न कणों से आजीविका करने वाला दलिद्री कूबड़ा। हा ! दुष्टे तेने यह भी बिचार न किया मेरा पति राजाधिराज है और नव यौवन पुत्र विद्य मान होते ऐसे नीच, रंक, दलिद्री, उच्छिष्ट, भोजी, मलिन गात्र, कूबड़ाके साथ कैसे रमण करती हूं। हा! अमृते तेरी बुद्धि एक साथ ही नष्ट होगई तुझे यह नीच कृत्य करते किंचिंत् भी लज्जा न आई परंतु सत्य भी है कि जो बल्लरी लता आम्र वृक्ष की शाखा पर प्रसरती आम्र फल का स्पर्श करती है वही लता कंटक युक्त वृक्ष की शाखा पर लंब मान होती उसका चुंबन करती है।

जिस वृक्षकी शाखा पर हंस तिष्ठताहै उसी पर बगुला भी बैठ जाताहै, जोकमलिनी दिवाकर की किरणोंके स्पर्शसे प्रफुल्लित होतीहै उसी को गमन करता मेंडुक पाद प्रकार करता है ॥

जो स्त्री गुण (फिड़च) सहित धनुषकी कुटलता सदृश जो राग को छोड़ने वाली संध्या तुल्य जो मारक स्वभावी विष की शक्ति समान जो ग्रहमें कलुषता करने वाली धूम्र पंक्ति वत् और जो नामिनी सरिताकी भांति होतीहै वह दुश्चारिणी, दुष्टी, पर पुरुष गामिनी जो कुछ नीच कर्म न करै वही थोड़ा है।

श्री क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से और भी कहने लगे कि राजन् उपरोक्त विचार करते यशोधर महाराज गोपवती, वीरवती और रक्ता एवं दुश्चारिणी स्त्रियों के चरित्र का स्मरण करने लगे।

* गोपवती का चरित्र *

किसी ग्राम में महा व्यभिचारिणी कुलटा गोपवतीनाम की स्त्री निज भर्त्तार सहित वास करती थी किसी समय भर्त्तारने उसके चरित्रसे व्याकुल होकर अन्य स्त्रीके साथ पाणि ग्रहण कर लिया इस रहस्यको जान वह दुष्टा अत्यंत क्रोध युक्त होती हुई एक दिन नवाविवाहिता भार्या सहित उसका भर्त्तार शयन कर रहाथा उसे देख वह विष धारिणी सर्पिणीकी भांति फुंकार करती, तीक्ष्ण तलवारसे निज सपत्नी ' शोक ' का मस्तक काटकर किसी गुप्त स्थानमें रख दिया।

जब उस स्त्रीकी दग्ध क्रिया से निश्चिंत होकर भोजन के अर्थ गोपवतीके गृह में गया यहां मृता स्त्रीके शोक से उदास मुख बैठा भोजनमें अरुचि करने लगा-उस समय भर्त्तारकी यह दशा देख गोपवती ने निज सपत्नी का मस्तक भर्त्तार के भोजन की थालीमें रखकर कहने लगी के इसका

भक्षण कर इस कृतिको देख भयवान होता भर्त्तार वहांसे भागा परन्तु उस दुष्टाराक्षसी ने भागने न दिया किंत तीक्ष्ण छुरिका से भर्त्तारका मस्तक काट लिया पश्चात् निश्चिंत होकर मनमाना व्यभिचार करने लगी। इत्यादि

* बीरवतीका चरित्र *

एक सुदत्त नामके पुरुषने वीरवती नामकी स्त्रीसे पाणि ग्रहण कर कुछ दिनों बाद स्त्रीके लेनेको सुसरालमें गया बीरवती एक अंगारक नामक चोरसे आशक्त थी परन्तु सुदत्तके पहुँच जानेसे उसे अंगारकके निकट जानेका अवसर नहीं मिलता था इस कारण रात्रि दिवस छटपटाती रहती थी-एक दिन किसी अपराधवश स्मशानमें अंगारकको शूली दीगई इसकी सूचना यद्यपि बीरवतीको होगई थी परन्तु दिनमें अवकाश न मिलनेसे जब रात्रि समय उसका भर्त्तार निद्रामें घुर्राटे लेने लगा तब अर्द्धरात्रिको गुप्तरीतिसे निज प्रेमीके निकट पहुँचकर शूलीके नीचे मृत पुरुषोंकी पेंड़ी लगाकर उसपर खड़ी होकर उसका आलिंगन किया पश्चात् जिस समय अंगारक ने इसके अधरामृतका पान किया उसी समय उधर अंगारकके प्राणांत होनेसे उसकी दांती बंधगई इधर नीचे जो मृतकोंकी पेंड़ी बनाई थी वह खिसक गई इससे बीरवतीका अधर कटकर अंगारकके मुखमें रह गया पश्चात् बीरवती मुख छिपाकर जिस प्रकार गुप्त रीतिसे आई थी उसी भांति निज गृहमें जाकर निज भर्त्तार के निकट लेटगई तत्पश्चात् उस दुष्टा व्यभिचारिणीने युक्ति

पूर्वक पुकार मचाई कि हाय हाय मेरे पतिने मेरा होंठ काट लिया उसकी पुकार सुन समस्त परवारके लोक एकत्रित होगए जब प्रातःकाल हुआ तब राज दर्बार में जाकर राजाको सर्व वृत्तांत सुनाया राजाने तत्कालसुदत्तको दोषी समझ शूली चढ़ाने का आदेश दिया जब राज कर्मचारी सुदत्त को लेकर चलने लगे उस समय एक वीरभट नामका पथिक जो कि वीरवती के दुश्चरित्रका पूर्ण मर्मी था उसनें राजा से समस्त रहस्य निवेदनकर यहभी कहा कि श्रीमहा-राज ! यदि मेरी बात असत्य समझें तो मृतक अंगारकका मुख देखाजाय उसमें वीरवती के भग्न होंट का खंड अवश्य होगा ऐसा सुनकर महाराजकी आज्ञानुसार जब मृतकअंगा-रकका मुख देखागया तो उसमें होंट खंड निकला पश्चात् नृपति ने वीरवतीका दुश्चरित्र ज्ञातकर सुदत्तका मुक्तकर उस के स्थान में वीरवतीको शूली देनेका आदेश दिया उस समय समस्त लोकोंने कुलटा वीरवतीका साहस देख अत्यन्त आ श्चर्य किया कि देखो इस दुष्टिनीने अपने दुष्कर्म छिपाने के अर्थ निरापराध विचारे सुदत्तको अपराधी ठहराया परंतु यह बात भी है कि निरंतर सत्यकीही जय होती है और दुष्कर्मी असत्यवादीको योग्य दंड मिलता है यदि ऐसा न होय तो असत्यवादियोंकी इतनी संख्या वृद्धिंगत होजाइ कि जिसका पारा वार न रहै दुष्कर्मियों को अपराधके योग्य दंड मिलहीजाता है इसी कारण अन्यासे भयभीतहोकर अनेक लोक अन्याय से दूर रहते हैं। इति

॥ रक्तानामकी रानीकी कथा ॥

अयोध्या नगरीका अधिपति देवरति नामका राजाथा वह रक्तानाम की रानी प्रति ऐसा आशक्त था कि समस्त राज्य कार्य छोड़ अंतःपुर में निवाश करने लगा था एक दिन राजमन्त्री ने आकर राजा से कहा कि इस प्रकार आप के भोगाशक्त होते हुए रनिवाश में रहने से समस्त प्रजा अन्याय मार्ग में पर्वत्तनें लगी है सो या तो प्रजाजनों का न्याय कीजिये या अहतज वनवास कीजिये वहीं आप के लिये समस्त भोग सामग्री एकत्रित करदीजायगी क्योंकि यहां रहने से सकल लोगों के हृदयों में अनेक प्रकार की वार्त्तायें उत्पन्न होतीं हैं और लोक अनेक प्रकार की गप्प मारतेहुए अन्याय कार्य प्रतिउद्यत होरहे हैं इस प्रकार मंत्री के वचन सुनकर रक्तामें आशक्त राजा वन में जानेको उद्यमी होगया नदीके तट पर जो कि महाराजका वड़ा वाग था वहां समस्त सामग्री एकत्रितकर वहीं निवाश करनेलगे।

उस राजा के वन में एक पंगु माली रहता था वह मिष्ट स्वरसे गान अच्छा करता था एक दिन उस पंगु मालीका गाना सुनकर रक्ता रानी उस प्रति आशक्त चित्त होकर उसे एकांत में बुलाकर कहने लगी कि मैं तुझ पर अत्यंत प्रसन्न हूं तूं मेरे साथ भोग विलास कर और उत्तम प्रकार के नित्य भोजन कियाकर ऐसा सुन पंगुने कहा कि स्वामिनी आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूं परंतु महाराजके रहते यह काम मुझ से न हो सकेगा क्योंकि इस में प्राणों का संशय है यदि कदाचित राजा ने यह दुष्कर्म देखलिया तो

हम और आप दोनों मारे जाइगें इस प्रकार सुन रानी ने कहा कि तूं इस बात से किंचित भी भय मत करै क्योंकि मैं ने नृपति के मारने का उपाय प्रथमही सोच रक्खा है अब तूं एक काम कर कि एक पुष्पोंकी माला तांत में पोहकर बना और अपने पास रख, जब हम मगावें तब तूं लाकर देना ऐसा कहकर पंगु को तो विदा किया और आप उदास मुख बनाकर राजा के निकट जाकर रुदन करने लगी तब राजा ने मधुर वाक्यों से पूछा कि प्रिये प्राणवल्लभे ! तूं आज रुदन क्यों करती है इस का क्या कारण है ऐसा सुन रानी ने गद्गद् स्वर से कहा कि प्राणेश आज आप की जन्म गांठि का दिवस है जब नगरी में रहते थे वहां कैसा महान् उत्सव होता था और यदि नगरीमें होते तो क्या वही उत्सव न होता परंतु उत्सवतो दूर रहा आपतो यहां नगरीसे अति दूर सरिता तट पर निर्जन स्थान में वास करते हो, ऐसा स्नेह पूर्ण रानी का वचन सुन राजा ने कहा कि प्राणेश्वरी यदि तेरी ऐसी ही इच्छा है तो यहां भी सब कुछ होसक्ताहै क्योंकि प्रिय वस्तुका समागम होते निर्जन वनभी स्वर्गतुल्य है जो करने की इच्छा होइ वह करो, ऐसासुन रानी ने उत्तम प्रकार का आहार तयारकर राजा सहित भक्षणकिया पश्चात् विनोद पूर्वक सरिता तटपर बैठ· विनोदपूर्वक तांतिके सूत्रसे बनाहुआ फूलोंका हार पंगुला माली से मंगाकर हास्य पूर्वक राजा के गले में डाल तत्काल फांसी के फंदा से झटका देकर राजाको नदीमें धकेलादिया।

नृपवर ! उस दुष्टिनीने तो मृतक जानकर डालही दिया था परन्तु मैं आयुकर्म के योगेस जीवित बच गया किंतु

नदीके प्रवाह में बहता हुआ चंपापुरीके वाह्य उद्यानमें किसी प्रकार पार लगा जैसा ही वहां से निकला कि वहां पर बैठे हुए पयादोंने राजा को लेकर चलने लगे प्रथम तो उसने जाना कि एक आपति से निकला कि दूसरी विपत्ति में फंस गया परंतु उन किंकरोंके कहने से मालूम हुआ कि यहां का राजा निःसंतान मरणको प्राप्त होगया पश्चात् मं-त्रियों और अन्य राज कर्मचारियों ने निमित्तज्ञानी से पूछा कि यहां का राजा कौन होइगा तब निमित्त ज्ञानीने कहा कि एक अयोध्या नगरीका देवरती नामका राजा सरिता प्रवाहमें बहता हुआ यहां आवेगा वहीं इस राज्याशन प्रति आरूढ़ होकर प्रजाका पालन करैगा इस प्रकार निमित्त ज्ञानीके कथनानुसार हम लोग यहां बैठे थे सो आपको ले चलकर राज्यगदी पर बैठावेंगे ऐसा सुन चित्तमें संतोषित हुआ पश्चात् अभिषेक पूर्वक वहां का राजा बन, न्याय पू-र्वक राज्य करने लगा परंतु स्त्री के नामसे ऐसा विरक्त हो गया कि उसका नाम भी नहीं रुचता था।

नरेश ! वह रक्ता नृपको नदीमें पटक आप निर्भय होती उस पांगुल के साथ स्वेच्छा पूर्वक रमण करने लगी पश्चात् निज प्राणवल्लभ पांगुलको कंधेपर धारण कर घूमने लगी पांगुल निज गान विद्यासे लोगों को रंजायमानकर पैसा वसूल करता था उस समय दुष्टा की कृतिसे उसका सतीत्व प्रगट हुआ अर्थात् जो देखता था वही अपने मुखसे उस की इस प्रकार प्रशंसा करता था कि देखो अपने स्वामीको कंधेपर चढ़ाये फिरती है इसी प्रकार घूमती फिरती चंपापुरी में पहुंची वहां पंगुके गाने की और रक्ताके सतीकी प्रशंसा

समस्त नगरमें फैल गई तव एक समय राजमंत्रियोंने राजासे उसकी प्रशंसा की उसे सुन राजा ने कहा कि यद्यपि मैं स्त्री के नामसे अत्यंत विरक्त हूं परंतु तुम लोगोंके कहने से परदा के अंदर से उसका गाना सुन लूंगा ऐसा कहकर जैसेही उसका गाना सुना कि तत्काल मालूम होगया कि यह वही दुष्टिनी रक्ता रानी निज प्रेमीको कंधोपर धारण करती निज सतीत्वको प्रगटी करती है तत्पश्चात राजा हृदय में दुष्टाके चरित्रसे वैराग्य उत्पन्न होजाने से जिनदीक्षासे दीक्षित होकर महातप में तत्पर होगया। स्त्रियों का चरित्र अगाध है। इत्यादि

मारिदत्त महाराजसे क्षुल्लक महाराज कहने लगे कि राजन्! इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्रियोंके दुश्चरित्र का चिंतवन करते यावत् शयनस्थ हो रहेथे तावत् वह पसेवसे आर्द्रित शरीरा जारिणी अमृतादेवी निज प्रेमी कूबड़ा से रमणकर म्लान मुखी होकर मेरे भुजपंजरमें प्रवेश करती मुझे ऐसी ज्ञात हुई मानों विषपूर्ण सर्पिणीही है अथवा मृतक भक्षिणी डाकिनीही मेरे निकट आई है।

नृपवर! उस समय यद्यपि मेरे निकट शयनस्थ होरही थी तथापि मैं निज हृदय यह चिंतवन करने लगा कि जैसे खाज खुजानेमें सुख होकर पश्चात् दुखित करताहै उसी प्रकार विषय सेवनमें सुख होताहै जो आभरणोंका भार है वह सर्वगात्र को दमन करता और नृत्य आहारको दमन करता है जो शरीरकी लावण्यताहै अशुचिरसको उत्पन्न करने वालीहै जो स्नेहका बंधनहै वह दुःखका कारण है गानविद्याका प्रकाशहै वह गानेके छलसे विरही होता हुआ

रुदन करताहै जो प्रिय संभाषणहै वह मर्मका ताड़ने वाला है जो स्त्रीके रुपादिकका अवलोकनहै वह काम ज्वर का बढ़ाने वालाहै प्रियाका आलिंगन है वह शरीरको पीड़ा करने वालाहै जो स्त्रीके निरंतर अनुबंधमें रागहै वह दुःख पूरित कारागारहै और जो प्रेमहै वह ईर्षाकी अग्निहै उस में दग्ध होता हुआ पुरुष आकुलित होताहै और स्त्री सेवनादि क्रियासे उत्पन्न हुआ कामहै वह स्त्रियोंके हाथका तीक्ष्ण कृपाणहै उसी द्वारा दुष्टा व्यभिचारिणी परपुरुपरता वनिता निज पतिका घातकर पश्चात् आपभी मरणको प्राप्त होकर संसार वनमें परिभ्रमण करतीहै इत्यादि औरभी विचारने लगे।

मूल प्राकृत

जीवहुपरु दुक्कियघरु विच्छिणउ वाहायरु ।
इंदियसुहु गरुयउदुहुं किंह सेवय पंडियणरु ॥

संस्कृत छाया

जीवस्य परं दुःकृतघंर विस्तीर्णं बाधाकरम् ।
इंद्रियसुखंगरिष्टदुःखं कथं सेवीत् पंडितनरः ॥

मूलार्थ

जो जीवको बाधाकारक बिस्तीर्ण और उत्कृत दुःकृष्ट का घर और गरिष्ट दुःखहै उस इंद्रिय जनित सुखका पंडित जन कैसे सेवन करैं किन्तु कदापि नहीं करते ।

संस्कृत टीकार्थ

पृथ्वीनाथ ! यशोधर महाराज सयनस्थ हुए और भी बिचारने लगे कि यह जो मनुष्यका शरीरहै वह रोगों का स्थानहै क्योंकि यह शरीर धोया हुआ पवित्र नहीं होता सुगंधित किये सौरभित नहीं होता किंतु शरीर के संसर्ग

से उत्तम सुगंधित पदार्थ भी दुर्गंधमय हो जाताहै यह क्षण भंगुर शरीर पुष्ट किया हुआ भी बलवान् नहीं होता, प्रसन्न किया हुआ अपना नहीं होता, मंडन किया हुआ विवर्ण हो जाताहै भूषित किया हुआ भी अशोभन रहता है, अनेक प्रकार उबटने किया हुआ भी मलिन होता है, अनेक मन्त्रोंसे मंत्रित किया हुआ भी मरणसे भयभीत रहताहै; दक्षिासे दीक्षित किया हुआ क्षुधाके अर्थ अनेक प्रयत्न करताहै, अनेक उत्तम शिक्षा देते हुए भी अपगुणों में रमण करताहै, शांतिरूप किया भी दुःखित होताहै, निवारण किया हुआ भी पापमें पतन करताहै, धर्म शिक्षा देते हुए भी धर्मसे विमुख रहताहै। यह नाशवान् गात्र तैलादि मर्दन करते हुए भी रुक्ष रहताहै, पथ्य सेवन करते हुये भी प्रचुर रोगसे ग्रसित हो जाताहै, अल्पाहार करने पर भी अजीर्णसे व्याप्त हो जाताहै, बातनाशक तैलादिक मर्दन किया हुआ भी बातव्याधिसे पीड़ित होताहै, सीतल पदार्थों का सेवन करते हुएभी पित्तसे व्याकुल होताहै, रुक्ष और तीक्ष्ण पदार्थोंके सेवनसे भी कफ कर व्याकुल रहताहै, अनेक प्रकार प्रक्षालन किया हुआ भी कुष्टसे गलित होता है, बहुत कहां तक विचार करना यह शरीर अनेक प्रकार रक्षि किया हुआ भी यमराजके मुखका ग्रास बन जाताहै यद्यपि यह शरीर उपरोक्त प्रकारसे विपरीत प्रवर्त्तमान होताहै तथापि रागी पुरुष इस शरीरके अर्थ अनेक प्रकारके पाप कर्मों में तत्पर होता है इस के शिवाय।

मूलप्राकृत

ईय माणुसु कयतामसु जाइमरेवि तंवारहो।
तरुणीवसु अम्हारिसु जडुलग्गाहु घरवावारहो॥

संस्कृत छाया ॥

इति मनुष्यःकृततामसः उत्पद्यते मृत्वा तंत्रारको [नरके]
तरुणीवशः अस्मादृशः जड़ः लग्नःगृह व्यापारे ॥

सूलार्थ

इस प्रकार मुझ सरीखा मूर्ख मनुष्य निज स्त्रीके वश पाप कर्म करता और गृह व्यापारमें संलग्न होता मरकर नरक में जाता है।

संस्कृत टीकार्थ

इस प्रकार चिन्तवन करते यशोधर महाराज और भी विचारने लगे कि इस शरीर की यह अवस्थाहै और जिसके अर्थ अनेक पाप कर्म करताहूं उस प्रियतमा की यह दशा है तो अब मुझे भी समस्त कार्यों को त्यागना चाहिये इस से अब प्रभात होतेही नगर परवार और राज लक्ष्मीका त्याग कर गहन वन और सघन पर्वतोंकी गुफाओंका आश्रय करूं किंतु देवेंद्र धरणेंद्र और नरेंद्रोंकर पूज्य मुनि लिंग धारणकर महातपका आचरण करूंगा।

धरानाथ! इसी प्रकार चिंतवन करते करते प्रभात हो गया उस समय दिवाकर अपनी रक्त किरणों के समूह युक्त उदय होता अशोक वृक्षके नवीन पत्र की भांति सुशोभित होता था राजन्! वह दिवानाथ उदय समय ऐसा दृष्टिगत होता था मानों आकाश देवी ने लोकजनों के रंजित करने को सिंदूरको तिलकही धारण किया है वह दिनपति तीन लोक को प्रकाशित करता कैसा ज्ञात होता था मानों आकाश देवी ने उदयाचल के रत्न विनिर्मित छत्र ही धारण किया है अथवा दिशारूप कामिनी के कुंकम का समूह ही है।

पृथ्वीपति ! वह अर्थ उदया होता भास्कर मुझ विरक्त हृदय ने कैसा जाना मानों जगज्जन भक्षक यमराज का भ्रमाया हुआ चक्रही है उस समय प्रभात संबंधी वादित्रोंके मंगलीक शब्द श्रवणकर सेज से उठा पश्चात् स्नानादि नित्य क्रियासे निश्चिंत होकर मैं ने ऐसा चिंतवन किया जब कि मैं ने इस शरीरसे ही ममत्व छोड़ा तो इन रत्न जड़ित आभूषणों और बहुमूल्य वस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है इस शरीर संस्कार से कामकी वृद्धि होती है जिस कामदेव का फल मुझे प्रत्यक्ष मिल चुका है इस कारण इनका धारण करना सर्वथा अनुचित है एवं चिंतवनकर जैसे ही समस्त आभूषण कुंवियों को देने के अर्थ उद्यम किया ही था कि दूसरा विचार उपस्थित होने लगा ॥

श्रीमान् ! मैं ने क्या विचार किया कि यदि इस समय सकल आभूषण दूर करदूंगा तो समस्त अंतःपुर में यह वार्त्ता विस्तरित हो जायगी कि महाराज ने कुछ भी अमनोज्ञ देखा है इस कारण उदास चित्त होकर आभूषणों का त्याग किया है तथा मेरी सभावर्ती पंडित मंडली समस्त अभिप्रायों की ज्ञाता है उससे यह भेद किसी प्रकार गुप्त नहीं रह सकता इस के सिवाय यही वार्त्ता अनेक रूप धारणकर समस्त नगरमें फैल जायगी इस से प्रजाजनोंके चित्तों में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगेंगे तिस पर भी जो कहीं अमृता देवी इस रहस्य की ज्ञाता हो जायगी तो आप मरैगी और मेरे नाश का षड यंत्र रचैगी इत्यादि पूर्वा पर विचार कर मैं ने पूर्ववत् सर्व वस्त्राभूषण धारण किये वे मुझे ऐसे ज्ञात होते थे मानों समस्त दुःखों के समूह ही मेरे सर्व गात्र में लिप्त हो रहे हैं ।

राजन् ! सर्व शुभाशुभ, जीवन मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुख और शत्रु कृतघात के ज्ञाता जे विपुल बुद्धिके धारक तथा समस्त ऋद्धि समूह जिन के हस्तगत हुआ है ऐसे योगीश्वर भी स्त्रियों के चरित्र को नहीं जान सकते तो अन्य पुरुषोंकी कथा ही क्या है।

मूल प्राकृत

करि बज्झइ हरिरुज्झइ सगरे परबलु जिप्पइ।
कुकलत्तहो अणासत्तहो चित्तुण केणावि घिप्पइ॥

संस्कृत छाया

करी बध्यते हरिः रुध्यते सगरे प्रबलम् जीयते।
कुलत्रस्य अन्याशक्तस्य चित्तम् न केनापि ग्रह्यते॥

मूलार्थ

हाथी बांधे जाते हैं सिंह रोके जाते हैं और संग्राम में प्रबल शत्रु भी जीते जाते हैं परन्तु पर पुरुषाशक्त स्त्री के चित्त को कोई भी ग्रहण नहीं कर सकता॥

संस्कृतटीकार्थ।

नृपवर ! इस प्रकार चिंतवन कर मैं (यशोधर नृप) निज हृदय में उदास भाव धारण करता सभा में गया वहां रत्न जटित सिंहासन पर उपस्थित हुआ उस समय दोनों पार्श्वों में खड़े चमर ढारते थे सभा मंडफ में नृत्य कालिनी नृत्य करतीं थीं नर्त्तकगण अनेक कौतुक करते थे वीणा, बांसुरी, मृदंग आदि वादित्रों की गुंजारहो रही थी एक तरफ चारण भाटगण प्राभात की स्तुति करते थे राजन् ! उस समय का समस्त समाज यद्यपि सुखकर था तथापि मुझ (यशोधर नृप) को दुःख कर ज्ञात होताथा

नृपेश ! उस समय विद्वान् पंडितों ने सरस कथा का प्रारंभ किया जिससे मेरे चित्त में हर्ष उत्पन्न होने लगा उसी अवसर में रत्न सुवर्ण निर्मित दंडमंडित कर चोब-दारों ने पर मंडल के नृपगण मंत्री भट आदि का सभामें प्रवेश करवाया। उन सबोंने अपने मुकुट गतमणियों की प्रभा से धरातल को प्रकाशित कर मुझे नमस्कार किया। प-श्चात् चौबदारोंने सब को यथा स्थान स्थापित किया यद्यपि उस समय का अपूर्व दृश्य था परंतु मुझ विरागी को किं-चित् भी रुचिकर न होता भया।

महाराज मारिदत्त ! उपर्युक्त समाज सहित सभामंडप में सुकविकी काव्य सदृश मेरी माता चन्द्रमतीका शुभाग-गमन हुआ उस समय मैंने तपश्चरण का उपाय चित्त में धारण कर मिथ्या स्वप्नका वृत्तान्त मातासे निवेदनकिया।

मैंनें कहा कि हे मात ! आज रात्रि समय शयनावस्था में मैंनें एक भयानक स्वप्न देखा अर्थात् विकराल दुष्ट रक्त नेत्र श्यामगात्र एक महा भयानक विकराल वदन पुरुष हाथ में दंड लिए मेरे सन्मुख खड़ाहुआ। कहताहै कि तू जिनराज की दीक्षा शीघ्र ग्रहणकर नातर तुझे तेरी तलवार सहित नष्ट कर यमपुरको पहुंचाऊंगा-ऐसा कहकर तत्काल अदृश्य होगया।

नृपवर ! मैंने और भी मातुश्रीसेकहा कि माता वह भीम मूर्ति यद्यपि मेरे नेत्रोंके सन्मुख नृत्य कररही है इस से कुछ भी मुझे अच्छा नहीं लगता किसकी पृथ्वी और किस का राज्य किसकी स्त्री किसका पुत्र मुझे किसीसे कुछ प्रयो-जन नहीं है अब तो केवल आत्म कल्याणही इष्ट है इस से

समस्त परिग्रह का त्याग कर दुःसह इंद्रियोंके वलका विजय करूंगा और जिन दीक्षा धारण कर महातप तपूंगा।

मूलप्राकृत।

सुउ जसमइ णिच्चलमइ ठविवि रज्जेतं किज्जइ।
णिसि दिट्ठउ णिकिट्ठउं सुउण माइ णिज्जइ॥

संस्कृत छाया

सुतम् यशोमतिं निश्चलमतिं संस्थाप्य राज्येशंक्रियते।
निशि दृष्टं निकृष्टं स्वप्नम् मातः निश्चितम्॥

मूलार्थ

हे मात! रात्रि समय जो मैनें निकृष्ट स्वप्न देखा है इससे यही निश्चित कियाहै कि निश्चल बुद्धि जो यशोमति नामका पुत्र है उसे स्थापन कर राज्येश करना योग्य है।

संस्कृत टीकार्थ

जननि! दुष्ट स्वप्नकी शांति के अर्थ जिन दीक्षा ग्रहण करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। ऐसा सुन मुनि गुण घातिनी और मिथ्यात्व विष दूषित मेरे (यशोधरकी) माता कहने लगी।

चंद्रमती—पुत्र! चिंतित मनोर्थ और समस्त आशाओं की पूरने वाली कुलदेवता (चंडमारि) के अर्थ समस्त जीवोंके युगल बलि देने से दुःख क्लेश कलह और दुस्वप्नआदि समस्त कष्ट शांति होते हैं तो तेरे भी शांति अवश्य होगी इस कारण हे सुत! तू भी कुलदेवताकी सेवामें तल्लीन हो कर शांति कर्म करनेका उपायकर।

क्षुल्लक महाराज कहते हैं-अहो राजन्! मारिदत्त जिस समय मेरी माता ने दयारहित उपरोक्त बचन कहे उस समय

करुणाकर कंपित हृदय यशोधर नृप (मैं) इम कहने लगा

यशोधरनृप—अहोजननि! हे भट्टारिके महा पाप का कारण प्राणियों का वधकिस प्रकार करना क्योंकि जीव हिंसा समान न कोई पाप हुआ न है और न होगा जो पर जीवका विपरीत चिंतवन कर अपनी रक्षाकी इच्छा करता है वह अग्नि से शीतल होना चाहता है यह तो प्रत्यक्ष है कि जो दूसरेका उपकार करता है उसीका भला होताहै और जो अन्य का बुरा करता है उसका बुराही होता है किंतु उसका भला तीनकाल में भी नहीं होसकता क्योंकि जीव वध में प्रत्यक्ष पाप है और पाप का फल दुःख है तो इस से शांति किस प्रकार होगी कदापि नहीं होगी।

मातुश्री! जो जीवका घातक होता है वह उस जीव द्वारा अनेक प्रकार घाताजाता है इस कारण पापरूपी नौका में बैठकर विघ्नरूपी सरिता के पार किसप्रकार होसकता है इसके सिवाय एक बात और भी है कि यदि जीव वध में ही धर्म होय और इसी से विघ्नोंकी शांति हो जाइ तो पाप किस कार्य में होगा इस बात को समस्त मतवाले मानते हैं और यही वाक्य नित्य उच्चारण करते हैं कि "अहिंसा परमोधर्मः" इस वाक्य के वहिर्भूत कोई नहीं फिर जीव वध में धर्म होता है ऐसा कहनेवाला कौन होगा। तथा

मूलप्राकृत।

इयलोयहो परलोयहो जीवहिंसा भयगारी।
आउक्खय दुणिरिक्खय किं किर कर भडारी॥

संस्कृत छाया

इहलोके परलोके जीवहिंसा भयकारी [अस्ति]।
आयुक्षये दुर्निरीक्षिते किं किल करोति चंडमारी॥

मूलार्थ ।

इस लोकमें और परलोकमें जीवहिंसा भयकारीहै अतः दुःखकर भी न देखा जाय ऐसी आयुके क्षयमें निश्चयकर चंडमारी देवी क्या करसकती है ।

संस्कृत टीकार्थ

मात ! पूर्व समयमें असंख्य महापुरुष कालके ग्रास होकर परलोकवासी होगए सो क्या उस समय चंडमारी देवी नहीं थी या नैवेद्य और पशुओंके समूह नहींथे अथवा मद्यमांसका सरस भक्षण नहीं था या इस रीतिके ज्ञाता नहींथे जोकि चंडमारीको पशु तथा मद्य आदिकी बलिदे कर उसे संतुष्टकर लेते और मरणसे बच जाते इससे यही निश्चय होताहै कि चंडमारीमें यह शक्ति नहीं कि किसी जीवको कालसे बचा सके और उसको शांति प्रदान कर सके ।

संसारमें यावत्‌मात्र जीव समूहहैं वे अपने अपने कर्मों के आधीन सुख दुःखका भोग करतेहैं कोई भी किसीका न उपकार करताहै और न कोई किसीका अपकार करता है किंतु शुभाशुभ कर्महीं अपकार और उपकार का कर्त्ता होता है ।

राजन् ! इस प्रकार यशोधर नृपके [मेरे] बचन सुन माता चंद्रमती पुनः कहने लगी ।

चंद्रमती—प्रियपुत्र ! समस्त जगत्‌में धर्मरूप वृक्षका मूलवेदहै इस कारण वेद द्वारा संपादित जो मार्गहै राजाओं को उसीका पथिक बनना उचित है और वेदमें देवताके अर्थ पशुओंका घात करना प्रशंसनीय और पूज्य वर्णन

किया है इसीसे जीव वध पुन्य माना है और इसके करने वाले महापुरुष स्वर्गके अधिकारी माने गए हैं। यथा।

मूलप्राकृत

पसुहम्मइ पलु जिम्मइ सग्गहो मोक्खहो गम्मई।
जिह दियगुरु तिहिं कुलगुरु चवययव विउलमई॥

संस्कृत छाया।

पशु हंति पलं भक्षति स्वर्गं मोक्षं गच्छति।
यथा वृम्हा तथा कुलगुरुं च्यवति एषः विपुलमतिः॥

मूलार्थ।

जो पशुका घात करताहै और मांसका भक्षण करता है वह स्वर्ग और मोक्ष प्रति गमन करताहै एवं जैसी वृम्हाने वर्णन कियाहै उसी प्रकार विपुलमतिके धारक सुरगुरु तथा भैरवाचार्य[1] प्रतिपादन करते हैं।

संस्कृतटीकार्थ

राजन्! मेरी माताने इस प्रकार कहकर और भी कहा कि प्रियपुत्र! उपरोक्त कथनानुसार कुल देवता [चंडमारि] के अर्थ पशुओंका वलिप्रदान कर शांति स्थापन कर। इसी से तेरे क्रांति तुष्टि पुष्टि होकर उज्वल नेत्राविजय लक्ष्मी तेरे हृदयमें वास करेगी।

पुत्रवर! उस महादेवीके सन्मुख जीवोंका हवन करने से तेरे समस्त शत्रुगण त्रास युक्त होते तेरे चरणों को नमस्कार करेंगे और तेरा स्वभ्रयश दिगंतरों में विस्तृत हो जाइगा।

क्षुल्लक महाराज कहने लगे—राजन्! मारिदत्त यशोधर

1 वृहस्पति भैरवादयः

की [मेरी] माता उपरोक्त उपदेश देकर जब मौनस्थ हो गई तब (मैंने) यशोधर महाराजने पुनः कहना आरंभ किया।

यशोधर—प्रियमाता तैने जो कुछ कहा वह सर्व अनुचित और मिथ्याहै क्योंकि जेहिंसा मार्गके प्ररूपक हिंसाके प्रणेता और हिंसा उपदेशके श्रोताहैं वे महा घोरतर पापके करने वाले महा पापीहैं और जे पुरुष तीक्ष्ण खड्गकी धारा से पशुओंका घात करतेहैं वे निकृष्ट वार्विष्ट और पापिष्ट हैं जे पुरुष दीन पशुओं को बंधनमें डालकर त्रासित करते हैं उनका वधकर उनके मांसका भक्षण करतेहैं तथा मद्यपान कर देवताकी भक्तिमें लीन होकर नृत्य करतेहैं गान करते हैं और वादित्र बजाते हैं वे महापापके योगसे रत्नप्रभा शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमप्रभा, और महातमप्रभा, एवं सातों नरकोंकी पृथ्वी में उत्पन्न होकर ताड़न मारन शूलारोहण आदि असंख्य कष्टोंके पात्र बनते हैं और जब वहांसे निकसकर हिंसक तृर्यंच होकर अतिरौद्र दुख रूप कुयोनियों में भ्रमणकर किसी पुन्य योग्य से यदि मनुष्य पर्याय धारण करते हैं तो क्षुधावंत मूक खल्वाट पंगु, वधिर, नेत्रविहीन, निर्बल, दीन, दलिद्री, दुःख से पीड़ित, क्षीणगात्र, निष्काम (नपुंसक) शक्तिहीन, तेज रहित, अविवेकी, गौ आदि पशुओं के घातक, चांडाल नीचकर्म से आजीविका करनेवाले, धीवर, कलाल आदि हिंसक क्रूर परिणामी होते हैं पश्चात मरण प्राप्त होकर सिंह, शार्दूल, मार्जार आदि पशु, तथा सर्प, गृद्ध आदिपक्षियोंकी योनियोंमें भ्रमण कर महा घोर वेदना भोगते हैं।

मूल प्राकृत

पशुणाशसे जइ हिंसए परसु धम्मु उपज्जइ ।
तइ वहुगुणि मिलिवि मुणि पारद्धिउ पणविज्जई ॥

संस्कृत छाया

पशुनाशनेन यदि हिंसया परस्य धर्मः उत्पद्यते ।
तर्हि वहुगुणिनः मुक्ताः मुनिनः पापर्द्धिकः (किं) प्रणम्यते ।

मूलार्थ

पशुओंके बध करने से और परकी हिंसा सेही यदि धर्म उत्पन्न होता होय तो बहु गुणी और मुक्त मुनियों को पापी जीव क्यों नमस्कार करते हैं ।

संस्कृत टीकार्थ

यशोधर महाराज निज माता से और भी कहनेलगे कि यदि मंत्र संस्कारपूर्वक तीक्ष्ण खड्गकी धारासे पशुओं का बध करो, दिशाओं बलिप्रदान कर अग्निमें हवनकरो, देवगण और पितृजनोंका तर्पण करो, मुंड मुड़ाकर कषायिले रक्त वस्त्र धारण करो, अनेक सरिताओं सरवरों में स्नान कर राखलिप्त गात्र करो, गर्भ से उत्कठ जटा धारणकरो, इंद्रियोंका दमनकर पंचाग्नि तपो, धूम्र पानकरो, नग्न मुद्रा धारणकरो, वन पर्वत और कंदराओं में बासकरो, आतापन चांद्रायण और शुद्धोदनादिव्रतोंका चिरकाल पर्यंत धारण करो, इत्यादि और अनेक दुर्द्धर तपोंका आचरण करो परंतु यदि जीव दया बिना समस्त निष्फलही नहीं किंतु घोर वेदनायुक्त नरकों के कष्टोंका सहनकर अनंत काल पर्यंत संसार में भ्रमण करते हैं ।

राजन् ! कोटि शास्त्रोंका सार यही है कि जो पाप है वह हिंसा में है और जो धर्म है वह जीव दया है ।

मूलप्राकृत

इयसंते भयवंते अरहंते णउईरिउ ।
णकरंते मयमंते जेण जीउ संघारिउ ॥

संस्कृत छाया ।

इति सता भगवता अरहंतेन नयाः ईरिता ।
न कुर्वता मदवतायेन जीवः संघारितः ।

मूलार्थ

इस प्रकार होतेहुए अरिहंत भगवान ने जोलियें का प्रतिपादन किया उसे न करते मदगर्भित जीवोंकर जीवोंका संघात होता है ।

सं० टीकार्थ ।

जो पुरुष जीवका संहार करता है वह अनेक जन्मों में अनेक रोगों से ग्रसित होता बहुत भारका बहनेवाला होताहै जो परजीव को ताड़न मारनादि कष्ट देता है वह अनेक भवों में अनेक दुःखों का भोक्ता होता है । इत्यादि कहता हुआ मैंने कहा कि मात ! मैंभी तो अमर नहीं फिर इस नाशवान् शरीर के निमित्त किसप्रकार पर जीवका घात कियाजाय ऐसा कहकर तीक्ष्ण खड्ग म्यान से निकाल जैसेही कुंडल मुकुटयुक्त निज मस्तक के भग्न करने का आरंभ किया था कि मेरी माताके हाहाकार शब्द करने पर निकट तिष्ठेहुए नर रत्नों ने मेरा खड्ग पकड़ लिया तत्पश्चात् वृद्धामाता चंद्र मती ने मेरे चरणों में पड़कर कहा कि हे पुत्र रत्न मैंने यथार्थ में असत्य कहा परंतु जीव चेतनत्व गुण विशिष्टहै और शरीर अचेतन है इस कारण शरीर का घात करने से पौद्गलिक शरीरको इस बातका बोध नहीं होता कि मैं भग्न किया

जाता हूं अथवा मेरे शरीर में किसी प्रकारकी पीड़ा होती है इस के सिवाय शरीरके नाश होने में नित्य आत्माका नाश नहीं होता इस कारण हे पुत्र ! अपने कुल कर्म से चला आ या जो मार्ग उसे स्वीकार करनाही सर्वथा उचित है। इत्यादि चरणों में पड़ी माता ने ऐसा कहा तब मैंने कहा कि हे माता इस कार्य में यद्यपि अधर्म है तथापि तेरी आज्ञाका प्रतिपालन करूंगा पश्चात् तपश्चरण धारण करूंगा ऐसा जब मैंने कहा तब माता चंद्रमती मेरे चरणों परसे मस्तक उठाकर सहर्ष तिष्ठी तत्पश्चात् लेपकारको बुलाकर पिष्ट निर्मित कुर्कुट के लानेका आदेश किया।

मूलप्राकृत

अम्हारउ लेप्पारउ विहसेवि अम्मइ भाणियउ।
ते कुक्कुड़ वणुक्कुडु पिट्ठे णिम्मेवि अणियउ॥

संस्कृतछाया

मम लेपकारकः हसित्वा अंबया भणिता।
तेन (लेपकारकेन) कुर्कुटः वर्णोत्कटः पिष्टेन निर्माय्य आनीतः

मूलार्थ

मेरी माताने जिस समय हास्य पूर्वक लेपकार [चितेरे] से कुर्कुट लानेको कहा तत्काल वह [चितेरे] पिट्ठी से बना हुआ उत्कट वर्णका धारक कुर्कुट [मुर्गा] ले आया।

संस्कृत टीकार्थ

क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपसे और भी कहने लगे कि राजन् ! उस कुर्कटका रूप रंग ऐसा मनोज्ञ दृष्टि होता था मानो अपने उत्कटवर्ण युक्त पक्षोंसे अभी गगन मार्गसे उड़ा जाता है वह कूकड़ा गर्दन उठाये चंचु खोले

ऐसा ज्ञात होता था मानों प्रातकालीन शब्दोंका उच्चारण कर समस्त लोगोंका जाग्रतही करता है।

नृपवर ! उस चित्रकार ने ऐसा उत्तम यथास्थानीय रंगदेकर मुर्गा बताया था कि जिसके देखनेसे कोई नहीं कह सक्ता कि यह कृत्रिम कुर्कुटहै किन्तु विधाताकी चित्रकारीकी उत्तमता ज्ञात होतीथी।

महाराजाधिराज ! जिस समय मेरी दृष्टिका और उस कूबड़ेका संबंध हुआ उसी समय मेरी माताके आदेश से पटह, ढोल, मृदंग, शंख, मादल, काहल, बांसुरी, और झांझ आदि वादित्रोंके शब्दसे गगनांगण पूरित होने लगा तथा अनेक प्रकारके वृक्षोंके सुगंधित पुष्पोंका समूह दधि दूर्वा [दूब] चंदन आदि सामिग्री एकत्रित होगई।

राजन् ! उस समय मेरी माताने मुझसे कहा कि प्रिय पुत्र अब विलंबका समय नहीं किंतु शीघ्रही कुल देवता के अर्थ बलिप्रदान करना चाहिये।

इस प्रकार माताकी आज्ञानुसार उठकर समस्त मंडली तथा पूजन करने वाले विप्रोंके समूह सहित महोत्सव पूर्वक कुल देवताके मंदिर प्रति पहुंचे वहां हम दोनों माता पुत्रों ने देवीकी प्रदक्षिणा देकर उपरोक्त सामिग्रीसे देवी का पूजन किया पश्चात् देवीके ऊपर पिष्ट निर्मित कुर्कुट का उतारण कर कुलदेवी के अग्रभाग में तीक्ष्ण छुरिका से उसका घात कर कूकड़ेके भीतर से निकले हुए आरक्तवर्ण जल में रुधिरका संकल्प कर देवीके गात्रका सिंचन किया और पिष्ट निर्मित शरीरमें मांसकी कल्पनाकर देवी सन्मुख चढ़ादिया तत्पश्चात् हम दोनों माता पुत्रोंने हाथ जोड़कर

देवीसे प्रार्थना की कि हे माता यह अपूर्ण कार्य पूर्ण होउ इस प्रकार तीन वार कहने उपरांत समस्त पुजारी विप्रोंने घृत, सहत आदि वस्तुओंमें मिश्रितकर सबको बांट दिया सो हम सबने तथा ब्राह्मणोंने मांस ज्ञातकर माताके परसादका भक्षण किया।

वही संकल्पी हिंसा और कल्पना मात्र मांस भक्षण से जो पापका बंध हुआ।

मूल प्राकृत

पुणु जोइणि भयदाइनि मइ पणमिय सब्भावें।
पइ दिट्ठऐ संतुट्ठये जणु मुच्चइ संतावें॥

संस्कृत छाया॥

पुनः योगिनी भयदायिनी मया प्रणमीता सद्भावेन।
तव दृष्ट्वा संतुष्टया जनः मुच्यते संतापतः॥

मूलार्थ।

राजन्! तदुपरांत समीचीन भाव से योगिनी (देवी) को नमस्कार कर मैंने कहा कि हे माता! तुझे देखकर संतुष्टतासे मनुष्य संतापसे मुक्त हो जाता है।

पृथ्वीनाथ! म ने योगिनी से और भी प्रार्थना की कि हे देवी तेरी कृपा से मुझे जंघाबल, बाहुबल और मेरा अचल जीवितव्य होउ। हे सुरेश्वरि! महान् अरण्य अति कष्ट और प्रिय वियोगमें मेरी रक्षा करो।

इस प्रकार विज्ञप्ति करता देवीकी शरणमें प्राप्त हुआ परंतु निकट आए हुए मरण से किंचित् भी ज्ञात न हुआ।

तत्पश्चात् हर्ष पूर्वक निज मंदिर प्रति जाकर निज पुत्र का सुवर्णके कलशों से अभिषेक कराकर उसे राज्यासन पर स्थापित किया।

नृपेश ! जिस समयमें समस्त कार्योंसे निश्चिंत होकर तपोवनको उद्यत हुआ ही था कि इतने में अमृतमती कांता ने अपना संकल्प दृढ़ किया अर्थात् वह निज हृदयमें विचारने लगी कि रात्रि समय कूबड़ाके साथ जो क्रिया की वह स्वामीको ज्ञात हो गई इसी से सामंत, मंत्री आदि परिकर और समुद्रांत पृथ्वी का राज्य त्यागकर तपश्चरण की इच्छा करता है क्योंकि मैं ने महाराजके मनका भाव उन के शरीर की आकृति से ज्ञात किया है ।

मूल प्राकृत

सुदलिल्लि जिह फुल्ले फलु होही जाणिज्जइ ।
अविहंगे तणुलिंगे तिंह परहिंउं मुणिज्जइ ॥

संस्कृत छाया

सुदलवल्ली यथा पुष्पैः फलं भविष्यति इति ज्ञायते ।
अखंडे तनुलिंगे तथा परहृदयम् ज्ञायते ॥

मूलार्थ

जैसे सुंदर पत्रों सहित बल्लरी पुष्पोंसे ज्ञात होती है कि इस में फल होंयगे इसी प्रकार अखंड शरीरके लक्षणोंसे दूसरे का हृदय भी जाना जाता है ।

संस्कृत टीकार्थ

इस प्रकार चिंतवन करती अमृतादेवी निज हृदय में दृढ़ संकल्प कर मेरे निकट आकर कहने लगी ।

अमृता०—स्वामिन ! आपने जो दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ संकल्प किया है वह अति उत्तम है परंतु मेरी एक प्रार्थना है उसे सहर्ष स्वीकार कर पश्चात् तपोवन को प्रयाण कीजिये ।

प्राणेश्वर ! (चरणों में पड़कर) आपकी मंगल कामना का समस्त अंतःपुर और नगर निवासी जनोंको निमंत्रित किया है सो आपभी देवता के परसादका भोजन ग्रहण कीजिये पुनः मैं और आप दोनों ही जिन दीक्षा ग्रहण करेंगे क्योंकि आपके विना मैं इस जीवितव्य कहां और किस प्रकार धारण करूंगी ।

प्राणनाथ ! आजदिन और ग्रह में तिष्टो प्रातःकाल ही जैसे कामदेव के रति, इंद्रके शची, नारायण के लक्ष्मी, राम चंद्रके सीता और महा मुनि के शुद्ध बुद्धि अनुगामिनी होती है उसी प्रकार मैं आपके चरणों की दासी आपके पश्चात् तपोवन को गमन करूंगी ।

मूल प्राकृत

तवचरण वि जमकरण वि पईसहु मरण वि भावइ ।
पियपइं विण, महुजोघण, जण, अंगुलिय दावइ ॥

संस्कृत छाया

तपश्चरणं अपि यमकरणं अपि त्वया सहमरणं अपि भावायिष्यामि । प्रियपते (त्वया) विना ममयौवनं जनाः अंगुल्या दर्शयंति ॥

मूलार्थ

नाथ ! आपके साथ ही मैं तपश्चरण धारण करूंगी यम नियम का पालन करूंगी। प्रियपते ! आपके विना समस्त जन मेरे यौवन को अंगुली उठाकर देखेंगे अर्थात् सर्वलोक ऐसा कहेंगे कि जिसका पति तो समस्त परिग्रह का त्याग कर वनोवासी हो गया और यह गृह में निवास करती सुख भोग कर रही है ।

संस्कृत टीकार्थे

मारिदत्त महाराजसे क्षुल्लक महाराज और कहने लगे कि राजन् भवितव्य बड़ा बलवान है क्योंकि मेरे चरणोंमें पड़ी अमृतादेवी के स्नेह पूर्ण वाक्यों को सुनकर यद्यपि मेरा विरक्त चित्त हो गया था परंतु भवितव्यानुसार पुनः उस के प्रेम की पाशि में बंधगया !

नृपवर ! उस समय मैं पुनः ज्ञान नेत्र विहीन होकर उस परपुरुषाशक्त दुष्टिनीके रात्रिकृत कर्मको स्वप्न सदृश ज्ञात करने लगा तत्पश्चात् चरणोंमें पड़ी हुई अमृताके कमल कोमलको ग्रहणकर कहने लगा कि प्रिय उठ मैं तेरी इच्छा पूर्ण करूंगा ऐसा सुनकर वह कपटवेषा प्रफुल्ल वदना हास्य पूर्वक रसोईदार को उत्तमोत्तम भोजनों की आज्ञा देकर कहने लगी कि अब भोजनों में क्या बिलव है शीघ्रतर तयारी करो ऐसा सुन रसोईदार ने कहा ।

रसोईदार-(हाथ जोड़कर) स्वामिनि भोजन तैयार है किंतु श्रीमहाराजके पधारनेकाही केवल विलंब है ।

इस प्रकार रसोईदार के वचन सुन हर्षित चित्त होती मुझसे कहने लगी ।

प्राणपति-रसोई तयारहै जीमनेके अर्थ शीघ्र पधारिये क्योंकि आप के भोजन हो जाइंगे तब अन्य लोगों को जिमाऊंगी ।

महाराज मारिदत्त इस प्रकार प्रेमपूर्ण अमृतादेवीके वचन सुन हर्षित चित्त होता बंदीजनोंके बिरद सहित कर्मों का प्रेरा अमृताके महल प्राति गमन करता भया । वहां पंचवर्ण की ध्वजाओंसे पूर्ण स्फटिक भूमिमें सुकोमल उज्वल

आशनपर माता सहित तिष्टा उस समय मेरे सन्मुख रक्खे हुए लघुपात्रों सहित सुवर्णका थाल कैसा दृष्टिगत होने लगा मानों ताराओंके समूह युक्त आकाश मंडल ही है।

उस कनकमय थाल में सरस व्यंजन समूह सुकवि की काव्य की भांति सरस अति मनोग्य दीखने लगे तथा भोजन समयकी सभाभी काव्यकी भांति रसवतीभासती थी।

मूलप्राकृत।

अइकोमलु सरलापलु धवलु कूरुजहीं सीसइ।
तं भोयण, गुणलोयण, पिसुणसमाणउ, दीसइ॥

संस्कृत छाया

अतिकोमलं सरसाऽमलं धवलं।
तंभोजनं गुणलोपक पिशुनसमानं दृष्टम्॥

मूलार्थ

वह अति कोमल सरस निरमल और धवल एवं उत्तम ओदन [भात] का भोजन गुणलोपी (कृतघ्नी) की भांति देखा।

संस्कृत टीकार्थ

उस ममय नवीन कंचनवर्ण तुषरहित और दोखंड की दाल मेरे थाल में रक्खी कैसी ज्ञात होनेलगी मानों खन्ड कियेहुये यमराज के वाणही हैं।

राजन्! उस रसोईदारने तपाहुआ घृत दुग्ध और उत्तम दधि मेरे थालमें क्षेपणकिया सो वह कैसा दीखनेलगा मानों दुष्टग्रहणी के संगम में यमपुरका मार्गही एकत्रितहुआ है तत्पश्चात् परमंडलीक राजाओं की भांति मेरे घातक सुगोल मोदक भी दियेगए वे तीव्र विषयुक्त मोदक उसी अमृतादेवी

ने प्रेमपूर्वक मुझे दिये उसने कहा कि स्वामिन् प्राणनाथ! ये मोदक मेरी माताने भेजे थे, सो मैंने आपके भोजनार्थ रखछोड़े थे आज आपको अर्पण करतीहूं सो आप सबसे प्रथम इन अमृतमय अति स्वादिष्ट मोदकोंका स्वाद लीजिए तदनंतर अनेक मशालों सहित तीक्षण खड्गकी भांति शाक भी परोसे गए।

नृपवर! मैं दुष्टाभार्या के चरित्र से यद्यपि विरक्त चित्त था परंतु पुनः उसकी स्नेह पूरित मोहनी बातों में मोहित होकर ज्ञान शून्य होगया उस समय मुझे किंचित् भी विचार न रहा अर्थात् समस्त उत्तम व्यंजनोंको छोड़ प्रथम मोदकों कोही भक्षण हम दोनों माता पुत्रों ने किया। तत्कालही उस तीव्र विषकी वेदना से दोनों का शरीर घूमनेलगा जब मैंने जानलिया कि इसमें तीक्षण हलाहल है तब मेरे मुख से वैद्य वैद्य शीघ्र वैद्यको बुलाओ इतनाही शब्द निकलाथा कि तत्काल मूर्छित होकर धराशायी होगया उसी समय वह दुष्टा कपटवेषा अमृता मेरी भार्या। हा नाथ हा नाथ शब्द करती पुकारने लगी और मायापूर्वक रुदन भी करनेलगी पश्चात्

मूलमाकृत

परिपाडिये उप्परिचडिये केशभार वित्थारिउ।
हउंकोमले गलकंदले दंतहिंपीडवि मारितः॥

संस्कृत छाया।

परिपतितया उपरिचड़ितया केशभारं विस्तारतः।
अहंकोमले गलकंदले दंतैः सपीड़ा मारितः॥

मूलार्थ।

सर्वओरसे चढ़कर ऊपर पड़कर केशभारको विस्तारती

(दुष्टाअमृता) ने अतिकोमल गले में दंतोंद्वारा पीड़ासहित मुझे मारा ।

संस्कृत टीकार्थ

पृथ्वीनाथ ! जब उसने जाना कि जो कहीं वैद्य आगया तो मेरा कपट खुलजायगा इससे ऐसा उपाय करनाचाहिये जिससे वैद्य के आजानेपर भी मेरा मायाचार प्रगट न हो ।

ऐसा विचारकर उस दुष्टा ने तीक्ष्ण दांतों से मेरे गलेमें घावकर मुझे मारा और लोगोंको दिखाने के लिये हा नाथ हा प्राणवल्लभ इत्यादि पुकारकर रुदन करनेलगी ।

नृपवर ! उस दुष्टाके पुकार मचाने से समस्त परिवार और अंतःपुर एकत्रित होगया । राजन् ! जो पुरुष व्यभिचारिणी कुलटा के वचनों का विश्वास करता है वह मेरी भांति नष्ट हो जाता है उस समय सज्जनजनों के मन और नेत्रों को आनंददायक मेरे पुत्रको सूचना मिलने पर शरीर कंपित होकर पृथ्वी मंडलपर ऐसे पड़ा जैसे वज्रपात से पर्वत पड़ता है पश्चात् सचेत होकर हा नाथ ! हाय तात ! आपके विना समस्त जगत् अंधकार मय भासने लगा । हाय पिता ! आपके जाने से मेरे सुखकी छाया भग्न होगई हाय स्वामिन् ! आप विना यह धरापट्ट शून्य हो गया । पृथ्वीनाथ ! अब इस अवंती के राज्यका स्वामी कौन होयगा । हाय पितृवर ! आपके विना यह राज्य मुझे रुचिकार नहीं हुआ किंतु उलटा दुःखदायक होगया । हाय तात इस विस्तीर्ण राज्य पर वज्रपात होउ मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं इत्यादि पुकारें करता रुदन करता भया और अपने कर कमलों से निज मस्तक और उरस्थल कूटनेलगा ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय मेरे पुत्र यशोमति की यह अवस्था देख वृद्ध मंत्री. सेनापति आदि मुख्य कर्मचारीगण और वृद्ध कुटुंबीजन संबोधते भये । हे पृथ्वीनाथ ! जैसे होय तैसे इन दुःख सहित अश्रुपात को रोककर समाधान चित्त होउ ।

सर्वलोक कहने लगे कि इस असार संसार में जितने महापुरुष हुए वे समस्त कालके कवल बन गए इस धरातल पर महाराज नल, नघुष, सगर, मांधाता आदि बड़े २ प्रतापी प्रजा के पालक हुए परंतु समस्त ही काल के वस होकर समाप्त होगए ।

इस मंडल पर वेणुपाल आदि महावली राजा हुए उन को भी काल ने भक्षण किया युवराज पूर्व समय में नारायण प्रति नारायण, हलधर, चक्रवर्ति और कामदेव आदि प्रतापी तीन खंड और छः खंड पृथ्वीके नाथ अनेक महाराजा हुए उन्होंने पृथ्वी तलपर अनेक अद्भुत कार्य किये परंतु वे भी यमराज के मुख के ग्रास होगए ।

चिरंजीव ! जो जन्म धारण करता है वह मरणको साथ लाता है इस कारण संसारकी क्षण भंगुर अवस्था जानकर शोकका त्याग करो किंतु समाधान चित्तसे निज पिता और पिता मही की विधि पूर्वक दग्ध क्रिया करो ।

क्षुल्लक महाराज--मारिदत्त नृपातिसे और कहने लगे कि नृप श्रेष्ट उस समय समस्त कर्मचारियोंके संबोधने से यशोमति बोध प्राप्त होकर शोकका त्यागकर पिता [यशोधर] और पितामही (दादी) की दग्ध क्रियाका प्रबंध करने लगा अर्थात् उत्तम चंदोवा स्थंभ, झल्लरी और क्षुद्र घंटिका

सहित विमान बनाकर उसमें दोनों शवोको स्थापन किया पश्चात् पटहा ढोल, शंख आदि वादित्रों के शब्द होने लगे परंतु उस समय समस्त बांधवोंके मुख मंडल की कांति नष्ट होगई किंतु उस दुष्टा अमृतमती ने यद्यापि बाह्य रीतिसे रु-दन आदि बहुत विलाप किया तथापि उसके मुखकी शोभा विशेष ज्ञात होने लगी ।

मूलप्राकृत

विमणम्मण पहु दुम्मण, वारवार मोहिज्जइ ।
मणितप्पइ पुण, जंपइ तायें विण, किं जिज्जइ ॥

संस्कृत छाया

विमनस्कमनः प्रभुः दुर्मनाः वारंवारं मुह्यते ।
मनसि तपातिपुनः जल्पाति ताते न विना किं जीव्यम्

मूलार्थ

उदास चित्त यशोमाति राजा दुर्मत होता वारवार मो-हित होने लगा पुनः मन में तप्त होने लगा और यह क-हने लगा कि तात के बिना क्या जीवितव्य है ।

संस्कृतटीकार्थ ।

पृथ्वीनाथ ! मेरे शोकसे समस्त अंतपुरकी स्त्रियां शोक सूचक रक्तवस्त्र धारणकर अनेक लोगोंके साथ मेरे शवके पीछे गमन करती ऐसी दीखतीथीं जैसे सूर्यके पीछे संध्या गमन करती है ।

राजन् ! मेरे शवके संग जाते समस्त लोक कैसे दृष्टि गत होतेथे जैसे चंद्रमाके साथ अनेक नक्षत्र समूह गमण करतेहैं इसी प्रकार गमन करते रुदन करते उरस्थल कूटते महाकाल नामक यक्षके मंदिरकी दक्षिण दिशाकी ओर

स्मशानमें लेगये वहां समस्त परिजन पुरजन किंतु अन्य ग्रामोंके राजालोक और अनेक सुभट समूह आए परन्तु मलिनभावकी धारने वाली दुष्टा पापिनी कुबड़ामें आशक्त अमृता नहीं आई ।

श्रीमान्! उस स्मशान स्थलमें उंचे हाथकर अति आतुर होते मरणका निश्चयकर स्वामीके शोकसे अपना मस्तक छेदने लगे कोई सुभट निजदेहके खंड करने लगे कोई सुभट पृथ्वीनाथ के स्नेहसे चित्ताकी अग्नि में पड़ने लगे कोई सुभट छुरिकासे निज उदरको भग्नकर चित्ताकी अग्निमें हवन करने लगे और अनेक वीरपुरुष उदरस्थल कूटते पृथ्वीतलपर लोटने लगे तथा अनेक पुरुष संसारसे विरक्त होकर जिनेश्वरी दीक्षा धारते भये ।

नृपवर! उपरोक्त समुदायके मध्य यशोमति नामक पुत्रने दोनोंका अग्नि संस्कार किया पश्चात् अग्निसे बचे हुए अस्थियोंका दुग्धसे सिंचनकर गंगामें क्षेपण किया तदनंतर मेरे नामसे अनेक विप्रोंको एकत्रितकर अनेक गायोंके समूह रत्न सुवर्णके हार आदि आभूषण उत्तम बहुमूल्यके वस्त्र चमरछत्र सिंहासन और अनेक ग्राम दिये तथा अंधे, लूले, लंगड़े, बुभुक्षित, दीनदलिद्री जीवों को अन्नवस्त्रादि दिये पश्चात् पुरजन और परिजनको उत्तम भोजन आदिसे संतुष्ट किये ।

पृथ्वीनाथ! मेरे निमित्त यशोमतिने अनेक प्रकार दान किये तौ भी समस्त योनियोंमें उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को प्राप्त न हुआ ।

धरानाथ! देखो संसारी जीव मिथ्यात्व कर्मके उदय

से कैसे मोहित हो रहेहैं कि जिनको इस बातका किंचित भी बोध नहीं कि जीव अपनेही शुभाशुभ भावोंसे अनेक प्रकार का कर्म बंधकर संसारमें भ्रमण करतेहैं और उनके अर्थ अन्यजन कितनाही दान पुन्य करो परन्तु उलटा मिथ्यात्वका बंध होता है।

वे अज्ञानी! प्रत्यक्ष देखते हुए भी भूल रहेहैं क्योंकि पिताके खानेसे पुत्रका उदर नहीं भरता इसी प्रकार पुत्र के भोजन करनेसे पिताकी तृप्ति नहीं होती जबकि निकट तिष्टे हुएकी उदर पूर्ण नहीं होती तो अन्य योनि प्रति गए हुएके अर्थ जो दिया जाइगा वह उस के पास किस प्रकार पहुंच जाता है।

मूलप्राकृत।

अइघोंरये हिंदहि विसयासत्तइ जीवइ ण उपावहि।
जावण भावहि दंसणणाण चरित्ताहि॥

संस्कृत छाया

अतिघोरे हिंडंति विषयाशक्तः जीवाः न तुप्राप्नुवंति।
यावत् न भावयंति दर्शन ज्ञान चारित्राणि॥

मूलार्थ

विषयाशक्त जीव तबतक अतिघोर संसारमेंही भ्रमण करतेहैं जबतक सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्रको प्रात नहीं होते और उनका चिंतवन नहीं करते।

संस्कृत टीकार्थ

प्रजापते! यह तो निश्चयहै समस्तजीव अपने किये कर्मोंके अनुसार संसारमें भ्रमणकर अनेक योनियोंमें उत्पन्न होताहै इसी प्रकार मैं भी निज कर्मोंके आधीन मरण प्रात

होकर हिमवन पर्वतकी दक्षिणदिशा के क्षुद्रवनमें मयूरके उदरमें उत्पन्न हुआ वह वन व्याघ्र, सिंहगज, गैंड़ा, हिरण, और रीछोंके समूहसे भयानकहै जिसवनमें व्याघ्र समूह हिरणोंका घात करते हैं सिंहगण मदोत्मत्त हस्तियोंके समूह से युद्ध करतेहैं उस निर्जन अरण्यमें किसी स्थल प्रति घुघू ग्रद्ध आदि पक्षियोंके समूह निवाश करते हैं किसी प्रदेशमें सर्प और नकुल युद्धका आरंभ करते हैं किसी स्थान प्रति भीलोंके समूह वृक्षकी बेलियोंसे फलोंको चुनते पथिकजनों के लूटनेके अर्थ मार्ग प्रतीक्षा कर रहेहैं कहीं २ वंदर और लंगूरोंके समूह वृक्षोंकी शाखाओंको कंपित करते घोरशब्द कर रहे हैं कहीं २ अष्टापदोंके समूहको विचरता देख सिंह भाग जातेहैं जिस अरण्यमें मृगनाभि (कस्तूरी) के अर्थ हिरणोंके घातमें लगे अनेक दुष्टजन विचर रहे हैं ।

प्राकृतमूल

तहिंकाणणि तरुवरघणे असुहकम्म परिणामें ।
वरिहणकुले बुहुसंकुले आणोविधितु कुकम्में ॥

संस्कृतछाया

तत्रकानने तरुवरसंकुले अशुभकर्मपरिणामेन ।
वरहिणकुले दुःखसंकुले आनित्वा क्षिप्तः कुकर्मणा ॥

मूलार्थ

तहां वृक्षोंके समूह से सघन वन में अशुभकर्म परिणामों के योग से दुःखों से व्याप्त मयूर कुलमें कुकर्मने लाकर क्षेपण किया ।

संस्कृतटीकार्थ

नृपवर ! उस भयानक बन के मध्य मयूर के तीव्राग्नि

युक्त उदर में उत्पन्न हुआ वहां जैसे दुष्टजनोंके वचनोंसे सज्जन जन दग्ध होते हैं उसीप्रकार मयूरकी उदराग्निमें दग्ध होनेलगा।

राजन्! जैसे तप्त कराहमें नारकी दुःखी होतेहैं उसी प्रकार मैं भी पीडित हुआ पश्चात मेरी माता मयूरने मुझे उदरसे निकाल बिलाव आदि हिंसक जीवोंकी भयसे कं-टक मय वृक्षोंके खंडोंसे छिपकर सर्करा (रेती) में पत्तों से ढांक उदरकी ऊष्मासे संतप्त किया तदनंतर पूर्ण दिवस होने पर मुझे अंडा से निकाला सोजावत मैं चलने और उड़ने योग्य न हुआ तब तक मेरी माता मुझे निज चंच (चोंच) से अन्नकण चुकाती थी उसीसे मेरी उदर पूर्ण होती थी इसी प्रकार कालक्षेप करतेथे कि दिन अरण्यमें भ्रमण करती माता को दुष्ट भीलने मारा और मुझे जी-वित ही पकड लिया पश्चात मयूरको एक वस्त्र में बांध और मुझे दूसरे वस्त्रमें लपेट निज घरको चलता बना।

नृपश्रेष्ट! उस समय मैं अनेक प्रकार रूदन भी करता था परंतु उस दुष्ट शिकारीके हृदयमें किंचित् भी दया का आवेश न हुआ।

मूल प्राकृत

तमहि गिम्हरा देहुम्हय हउसंतावित केहउ।
वाईसरि परमेसरि वणहुं तरइ ण जेहउ॥

संस्कृत छाया

तस्मिन्ग्रीष्मे देहोष्मणा अहं संतापितः कीदृशं।
वागीश्वरी परमेश्वरी वर्णयितुं तरति न यादृशं॥

मूलार्थ

राजन्! उस ग्रीष्म समयमें देहकी उष्णतासे मैं कैसा

संतप्त हुआ कि जिसके वर्णन करनेको परमेश्वरी वागेश्री (सरस्वती) भी समर्थ नहीं।

संस्कृत टीकार्थ

नृपवर! उस भीलने ग्राममें जाकर मेरी मृत माता (मयूर) को तो कोटपालके हाथ बेंचदी और मुझे निज घरमें ले जाकर पींजरामें बंद कर दिया पश्चात् दुःखकर कंपित हृदय मुझे देख भीलनीने अपने पति (भील) से कहा।

भीलनी—रे दुष्ट पापिष्ट! तू इस बालकको क्यों ल्याया इसके मारनेसे क्या होगा इसका एक ग्रास भी तो नहीं होगा क्या इससे उदर भर जाइगा तू बड़ी मयूर तो कोटपाल को दे आया और छोटा बालक यहां ल्याया है अब कहा तुझे भक्षण करूं रे नीच अब तू मेरे सन्मुखसे चला जा मुझे मुख मत दिखावे।

इस प्रकार भीलनी निज भार्याके कटुक और रूक्ष वचन सुनकर भील भी कहने लगा।

भील—अरी दुष्टनी तू क्यों घवड़ाती है अभी जाकर इस बच्चाको भी बेंच आताहूं उससे जो कुछ द्रव्य मिलेगा उसका अन्न लाकर तुझे देताहूं तब अच्छी तरह उदर भर लेना।

ऐसा कहकर भीलने उस मयूर बालक (मुझे) लेकर कोटपालके निकट जाकर थोड़ा चून लेकर मुझे दे दिया पश्चात् कोटपालने मुझे मारा नहीं किंतु मेरा पालन पोषण किया और मार्जार श्वान आदि जीवोंसे मेरी रक्षाकी।

मूल प्राकृत

तलवरघरे हंसुवरे हउं सछायउ जायउ।
कणु भुंजमि जणुरंजमि सुमहुर मुक्कणिणायउ॥

संस्कृत छाया ॥

मूलार्थ ।

पृथ्वीनाथ ! उस कोटपालके घरमें मैं हंसकी भांति समीचीन क्रांति युक्त शरीर होता भया वहां मैं धान्यका भक्षण करता मनुष्योंको रंजितकर सुमधुर शब्द करता भया ।

सं० टीकार्थ ।

नृपश्रेष्ठ ! पापी जीवोंका भी शरीर आहारके साथ बंधा हुआ है मैंने कोटपालके घरमें पेटभर भोजन किया जिस से पंचवर्णोके रत्नोंकी माला सदृश मेरे पुच्छ का गुच्छ निकला तथा मेरा समस्तगात्र अतिशोभा युक्त हुआ उसे देख हर्षित चित्त होकर कोटपालने कहा कि इस बालकको उज्जैनी नगरी जाकरमहाराज यशोमतिकी भेंट करूंगा ।

मूलप्राकृत

उज्जैणिहिं सुहजोणिहिं विसरस मुच्छिय कायहें ।
मदमइहें चंदमइहें गयउ जीउ महु मायहें ॥

संस्कृत छाया

उज्जैन्याम् श्वुन योन्यां विसरस मूर्छितकायः ।
मदमत्याः चंद्रमत्याः गतः जीवं ममः मातुः ॥

मूलार्थ

मदमती चंद्रमती नामकी मेरी माता का जीव उसी उज्जैनी नगरी में विसरस मूर्छितकाय श्वानकी योनि में प्राप्त होता भया ।

संस्कृतटीकार्थ ।

राजन् ! मेरी माता चंद्रमती जोकि विष्णुके चरणों की

भक्ता ब्राह्मणों के भोजन किये हुएमें से अवशेष रहे मांस की भक्षण करने वाली मुक्ताहार विभूषित विप्रों को तोषित करने वाली निरंतर चंडिकादेवी की पूजने वाली देवीके अर्थ अनेक दीनपशुओंको मारने वाली गंगानदी के जलको पवित्र माननेवाली बकरा हिरण मेष आदि दीन पशुओं द्वारा कुलदेवी और कुल पितरोंको तृप्ति करनेवाली और जैन मतानुयायी जीवमात्र के रक्षक नग्न दिगम्बर मुनियों की निन्दा करनेवाली थी वह अपने अशुभ कर्मों की प्रेरणासे श्वानकी योनि में उत्पन्न हुई वह श्वान महाबलवान पवनसमान वेग का धारक चंचल और कुटिल कुलिस [बज्र] सदृश कर्कश नख जिस हाथका प्रहार हिरणोंके समूहका विदारक था वह चंचल और वक्र पुच्छका धारक श्वान रोमावली के भार से पूर्णकंठ बृहतउदर पुष्टि और विस्तृत पिष्टभाग पीतवर्ण चंचल और भासुरमान नेत्र युगल बन सूकरोंको आपत्ति विधायक मुख यमराजके करोंत समान तीक्ष्ण दंत इत्यादि महाविकराल और पाप क्रियामें रत वह श्वान महाराज यशोमतिकी भेटमें आया और उसीदिन मुझ मयूर बालकको भी कोटपालने लेजाकर महाराजको दिया।

राजन्! उन दोनोंको देख महाराज यशोमति अति हर्षित चित हुए पश्चात् कुत्ताको श्वानपालकोंके हस्तगत कियागया और मुझे गृहका मंडन बनाया अर्थात् महल में रहने का आदेश दिया उस समय मेरे पुत्र यशोमतिने प्रेमपूर्वक मेरे समस्त गात्रपर हाथ फेरा और अत्यंत प्रशंसा करता निज हृदयमें इसप्रकार चिंतवन करनेलगा।

मूल प्राकृत

णिउणउ विहिंयहउ सिहि विरइउ पणरावउ ।
कमलच्छिहें णवलच्छिहें णावइ केसकलावउ ॥

संस्कृतछाया ।

निपुणः विधिः इदृक् शिखिं कथंविरचितः मनोनुरंजकः ।
कमलाक्षयाः घनलक्ष्याः मन्यते केशकलापः ॥

मूलार्थ ।

निपुण विधाताने यह ऐसा मनोरंजक मयूर निर्मित किया मानों कमलाक्षी नवलक्ष्मी का केशकलापही है ।

संस्कृत टीकार्थ

राजन् ! यशोमति नृप और भी विचारनेलगे कि जैसा ही मनोज्ञ मयूर है वैसाही मनोरंजक श्वानभी है यहतो कात्यायनी के सिंहसदृश बलवान् अपने वेगसे हिरण समूह का घातकहै तथा मुझे ऐसा ज्ञात होताहै कि इस श्वानके सन्मुख विश्नु महाराज का अवतार सूकरभी नहीं बचसकता ।

राजन् ! इस प्रकार अनेकप्रकार चिंतवनकर तत्काल कुत्ता तो श्वानपालकों के हस्तगत किया सो उन्होंने उसे यम राज तुल्य ज्ञातकर सुवर्ण की श्रृंखला (सांकल) से बांधा और मुझे महलों के मध्य छोड़दिया सो मैं गगनांगण में उड़ता महलों की शिखरोंपर क्रीड़ा करने लगा उस समय गगनांगण में गर्जना करता और ग्रीष्म रूप राजा के भगाने को इंद्रधनुष का धनुषधारण करता मेघमंडल देखा ।

मूलप्राकृत

विज्जलियरा कंचुलियरा भूसियदेहरा सुरधणु ।
घणमालाएणं बालए कियउ विचित्तु उपरियणु ॥

संस्कृतछाया

टीकार्थ

राजन् ! वह धनमाला रूपावाला विद्युतरूप कंचुकी से भूषित गात्रा इंद्रधनुषरूप विचित्र वस्त्र धारण करती देखी।

सं० टीकार्थ

उस समय मुझ [मयूर] ने वर्षाकालका आडंबर देख रोमांकुरित गात्र होता नृत्य करताभया पश्चात् जन्मांतर का अशुभ चिंतवनकर अश्रुपात करता रुदन करने लगा उसी समय धारातलपर तिष्ठा कपड़ा और उसप्रति आशक्त अमृतारानी देखी तत्काल पूर्व वैरसे ईर्षाके आवेशकर मैं उनके ऊपर पड़ा तहां पुच्छ और पक्षोंसे छिपाकर तीक्षण नख और द्वारा घातकरने लगा उस समय रुधिरकी धारा से व्याप्त अति विह्वल होते दोनों हाथ ऊंचेकर हाहाकार करते पृथ्वी पर पड़े पश्चात् उस अमृता दुष्टाने शीघ्र उठकर मणि की माला से मेरा पग भग्न किया सो मैं जातीस्मरण होने से ऐसा चिंतवन करने लगा।

मूलप्राकृत

जइ पह पहु तइ पहंसहु असमाणहु ण उच्चयमि।
येवहिं इहु मारउ लहु तेणाणिये करुलायमि॥

संस्कृतछाया

यदाअहं प्रभुः तदाहं समर्थः असमानः न उद्यामि।
इदानीं मयूरः तेनएतास्मिन्जारे करप्रहारंकृतंसः संक्लेशकारणं॥

मूलार्थ

जिस समय मैं समर्थवान् अद्वितीय राजा था उस समय

तो इनका घात न किया किंतु इस समय इस जार प्रतिप्र-
हार किया सो संक्लेशका कारण हुआ ऐसा विचारकर मैं
क्लेशित होने लगा।

संस्कृत टीकार्थ

राजन्! उपरोक्त विचार करता यद्यपि भग्नपाद होगया
था तथापि निजबल पूर्वक जैसे तैसे वहां से भागा परंतु
अमृता के पुकारने से अनेक दासी मेरे पीछे दोड़ी और
जिस के जो हाथ में पड़ा उसे लेकर मुझे मारने लगीं।

किसी दासीने कोप पूर्वक पांवड़ी फेंककर मारी एक ने
चमरकी दंडीही मारी किसी ने कर्पूरके पिटारेसे हना किसी
ने चौकीके फल से, किसी ने हारावलीसे, किसीने हाथकी
पुष्पांजलीसे और किसी दासीने वीणा के दंडही से घात
कर धरो पकड़ो जाने न पावे इत्यादि करती अनेक दासी
मेरे पीछे लगीं तो भी मैं भागताही गया परंतु दैवने फिर
प्राण बचने न दिये।

मूल प्राकृत

सुरउद्द हो तहुसद्दहो आए जणणी साणिं।
गलि यरिउ थरहरिउ हउं णिम्मुकउपाणि॥

संस्कृत छाया

सुष्ठरौद्रः तस्मात् शब्दात् आगतेन जननीश्वना।
गलं धृतः कंपयन् अहं निर्मुक्तः प्राणैः॥

मूलार्थ

भले प्रकार रौद्र शब्द से आए हुए माताके जीवश्वान
ने मेरा कंठ पकड़ लिया जिस से मैं प्राणों से मुक्त होगया

संस्कृत टीकार्थ

जो माता मेरे किंचित् अशोभन में विह्वल हो जाती

थी उसी माता के जीव कुत्ताने दांतोंकी दृढ़ शृँखलासे ऐसा कंठ पकड़ा कि महाराज यशोमति (मेरे पुत्र) ने बहुत छुड़ाया परंतु उस दुष्ट कुत्ता ने न छोड़ा तब यशोमति ने क्रोधिष्ट होकर उसके मस्तक में ऐसा दंड प्रहार किया कि तत्काल मस्तकके दो खंड होकर श्वानके प्राण निकल गए

नृपवर ! देखो कर्मोंका विकार कैसा विचित्र है कि माता के जीव श्वानने पुत्रके जीव मयूर को मारा और नातीने पिता मही के जीव कुत्ताको मार पश्चात् विलाप करने लगा ।

पृथ्वी नाथ ! उस समय मेरे मृत शरीरको देख यशोमति इस प्रकार बिलाप करने लगा कि हा मयूर ! हा ! गृहकी लक्ष्मीका आभूषण तेरे विना महल के शिखिर और ध्वजाओंकी शोभा कहां हा शिखराज ! तेरे विना घरकी बावड़ीमें विचरते सर्प कैसे नष्ट होंयगे हा शिखंड ! तेरे विना विचित्र पुष्पोंकी पंक्ति में कामिनियोंका शब्द श्रवणकर कौन नृत्य करेगा इत्यादि मयूर के शोकसे निर्वृत्त नहीं हुआ था कि इतने में कुत्तेका मृत शरीर देख पुनः विह्वल होता बिलाप करनें लगा ।

यशोमति महाराज कहने लगे अहोश्वान केशर पत्रका भक्षण और सूक्ष्म जलका पान क्यों नहीं करता हाश्वान अब यहां कैसा शयन कर रहे हो मेरे कुरुविंदुजाल नामक वन में निवाशकर सरोवर की कर्दमका अनुभव क्यों नहीं लेते क्या मेरे एक ही दंड से रुष्ट होकर शयनस्थ होगये यह देख सुवर्ण के पात्र में उत्तम भोजन दुग्ध मिश्रित रक्खा हुआ है उसे भक्षण क्यों नहीं करते ।

मूल प्राकृत

कयदुगाइ सारंगइरणि भवंत सइच्छइ ।
कोसारउ मिगमारउ रायहि कलिलहिपच्छइ ॥

सं० छाया

कृतद्रुतगतिः सारंगाः अरण्ये भवंतु स्वेच्छाचारिणः।
कः समर्थः मृगमारकः इदानीं शुनकस्य पश्चात् ॥

मूलार्थ

यशोमति महाराज और भी पश्चात् पूर्वक कहने लगे कि शीघ्र गमन करनेवाले हिरण अरण्य में स्वेच्छाचारी हो रहे हैं सो (हे श्वान) इस समय तेरे विना मृगोंको मारने में कोन समर्थ है ।

संस्कृत टीकार्थ

नृपवर ! उपरोक्त प्रकार चिंतवन करने के पश्चात् जैसा मेरा [यशोधर] और चंद्रमतीका अग्नि संस्कार किया था उसी प्रकार मयूर और कुत्तेकी दग्ध क्रिया की तदनंतर उसी प्रकार पिंडदान विप्र भोजन आदि समस्त कृत्य किया।

नराधीश ! देखो मोहवस होकर सुपुत्र इस कामनासे वस्त्र आभूषण भोजन आदि सामिग्री विप्रों को देता है कि मेरे मृत पिताके निकट पहुंच जायगी परंतु वहां किंचित् भी नहीं पहुंचती ब्राह्मणोंके वाक्जाल में फँसकर लोक ऐसा करते हैं सो इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं इत्यादि।

धराधीश ! जिस समय में प्राण मुक्त हुआ तत्काल सुवेलागिरि के पश्चिम भाग में महा शुभ अरण्य के मध्य कानी नकुली [नोली] के गर्भ में उत्पन्न हुआ राजन् वह कैसा भयानक वन था कि जिस में शुष्क वृक्ष और

पाणों की प्रचुरता से शाल्मली, बमूर, खादिर आदि कंटक वृक्षोंके सिवाय अन्य वृक्ष उत्पन्न नहीं होते थे जिस वन में जलका नाम निशान नहीं था किंतु पवन के वेगसे धूलि के पटल और शुष्क पत्रोंके समूह उड़ते दृष्टिगत होते थे उसी निर्जन और भयंकर वन में उस क्षुधा तृषा से पीड़ित शुष्क स्तना न्यौली के उदरसे जैसे ही मेरा जन्म हुआ कि मैं भी उसके दुग्ध रहित स्तनोंको जीभ से चाटने लगा सो दूध विना मुझ बुभुक्षित की तृप्ति किस प्रकार हो सकती थी पश्चात् ग्रीष्म की ज्वाला से संतप्त होता मैं ने एक तुच्छ सर्प देखा उसे तत्काल निगल गया उस समय मुझे सर्पका स्वाद अच्छा मालूम होने से मैं ने अनेक सर्पोंका भक्षण किया अब मैं सर्पों को भक्षण करता वृद्धि को प्राप्त होता कालक्षेप करने लगा।

धराधीश ! मेरी माताका जीव श्वान की पर्य्याय से उसी वन में सूक्ष्म जंतुओंका भक्षक तीव्र विष का धारक भयंकर सर्प हुआ।

प्राकृत मूल।

वाणाविलसइ बिलिपइसइ जाम ताम मईलद्धउ।
मुहलग्गइं पुछग्गइं धरिवि खाहु पारद्धउ॥

संस्कृत छाया

वनेविलसति विलप्रविशति यावत्तावत् मयालब्धः।
मुखेलग्नः पुंछाग्रं धृत्वाखादयितुं प्रारब्धः॥

मूलार्थ

वह विषधर ! वन में क्रीड़ा करता यावत् बिलमें बि-प्रेश करे तावत् मैं ने उसकी पुच्छका अग्रभाग मुख से धारण कर खानेका प्रारंभ किया।

संस्कृत टीकार्थ

राजन् ! जैसा मैं ने उसकी पूंछ काटी कि तत्काल उस ने लोटकर विकराल फणाकी घात से मेरे मुख में विषाग्नि छोड़दी पश्चात सघन दांतों को किड़किड़ाता मेरी पीठ के चर्म और अस्थिको विदीर्ण कर दिया जिस से चिड़ चिड़ शब्द होकर रुधिर की धारा बहने लगी ऐसी अवस्था देख पुनः मैं ने उछलकर उसके फण मंडलको ऐसा चर्वित किया कि वह तत्काल मरणांत होगया और मैं भी उसके विष की अग्नि में दग्ध होकर प्राण छोड़ दिये।

नृपश्रेष्ठ ! इस संसारमें ऐसा कौनसा जीव है जो कर्मों के विकारका उल्लंघन कर सके इसी कर्म के अनुसार असंख्य जीव एक दूसरे के भक्षक बन रहे हैं जैसे स्थावर जंगम जीवोंको द्विइंद्रिय ते इंद्रिय और चतुरिंद्रय एवं विकलत्रय भक्षण करते हैं उसी प्रकार पंचेंद्री विकलेंद्रिय जीवोंका घात करते हैं इसी भांति पूर्व वैरानुबंध से परस्पर घातकर मृत्यु प्राप्त होते हैं वैसे ही मेरी माताका जीव सर्प और मुझ यशोधर के जीव नकुल ने परस्पर एक दूसरेका घात यमपुरका मार्ग लिया और कुयोनि में उत्पन्न होकर दुःखोंका अनुभव प्राप्त किया।

मूलप्राकृत

इय पिसुणिउं पइंणिसुणिजइहिंस विवज्जहिं।
हय दप्पउ परमप्पउ पुप्फयंत पडिवज्जहिं॥

संस्कृत छाया

इति कथितं तया श्रुत्वा यदि हिंसा विनर्जयेत।
(तदा) हतदर्पः परमात्मा पुष्पदंतः प्रतिपद्यत॥

मूलार्थ ।

[क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपपतिसे कहते हैं] कि राजन् ! इस प्रकार मेरे कथनका श्रवणकर यदि हिंसाका वर्जन करेगा तो मद रहित परमात्माको प्राप्त होइगा तथा पुष्पदंत कविभी परमात्माको प्राप्त होगा ।

इति श्री महामतपनन्दकणाभरण पुष्पदंत महाकवि विरचिते यशोधर चरित्रे महाकाव्ये यशोधरचन्द्रमति भावांतर वर्णनो नामकद्वितीयो परिच्छेदः २

आशीर्वाद ॥

अथानंतर–जोकि औषधि और नक्षत्रोंके अधीश चंन्द्रमा सदृश क्रांतिका धारक पवित्र और उत्कट कीर्त्ति का स्थान समस्त शास्त्रोंके अर्थका ज्ञाता इंद्रादिकों कर पूज्य तीर्थंकरोंका परम भक्त भव्य पुरुषोत्तमों का भ्रात संसार समुद्रसे सतत भयभीत नीतिका ज्ञाता इंद्रियोंका विजयिता और विनय का पात्र ऐसा नन्हदेव वृद्धि को प्राप्त होउ ।

मूलप्राकृत

पुणुरायहो भासइ अभयरुइ णियभवभमणकिले सकहा ।
उज्जैणिहिं सिप्पा णामणइ अत्थि सत्थ गंभीरदह ॥

संस्कृत छाया ।

पुनःराज्ञः भाषयति अभयरुचिःनिजभवभ्रमणक्लेशकथाम् ।
उज्जयिन्यां सिप्रानाम्ना नदी अस्ति स्वच्छ गंभीर दहा ॥

मूलार्थ

पुनः अभयरुचि कुमार नामक क्षुल्लक मारिदत्त महाराज से अपने भवभ्रमण के क्लेशोंकी कहानी कहते भये कि राजन् ! उज्जैनी नगरीमें गंभीर द्रहों युक्त और स्वच्छ सिप्रा नामकी नदी है ।

संस्कृतटीकार्थ ।

पृथ्वीनाथ ! वह सिप्रानदी कहीं तटके वृक्षों से पड़े पुष्पों के समूहसे उज्वला, कहीं पवन प्रकंपित कल्लोलों के समूहसे गंभीर, कहीं क्रीड़ा करतीं तरुण स्त्रियोंके सीनोन्नत कुचोंसे छूटी कुंकुमसे पीत वर्णा, कहीं स्नान करते मदोन्मत्त गजराओंके परस्पर संघट्टसे चंचला और कहीं क्रीड़ा करते राजकुमारों के आभूषणों की किरणोंसे व्याप्त अनेक वर्णायुक्त दृष्टिगत होती है वह सिप्रा सरिता किसी स्थल में सारस जलकाक करंड और वक आदि पक्षियोंसे व्याप्त है कहीं वाच्छ और मत्सों की पुच्छके संघट्टसे विघटित सीपोंके संपुटसे मुक्ताफलोंके समूह फैल रहे हैं कोई स्थान प्रति उछलती कल्लोलोंकी वाहुल्यता कर उछलते जल के कणोंसे तटस्थ भुजंगोंके समूह सिंचित होरहे हैं वह हंसोंकर मान्य सिप्रा उज्वल कमलों की सुगंधके आस्वादमें लुब्ध भ्रमरोंके समूहसे श्यामवर्ण दृष्टिगत होती है जिसके उज्वल तटोंपर तपस्वी योगिराट् निज ध्यानमें मग्न होरहे हैं जिस स्वच्छ वाहिनीके सीतल जलको स्पर्श करती पवन मृगों के समूह और वनवासी भिल्लोंको शांति करती हैं जिस नदीमें जल पीनेको आए युद्धमान्य मदोन्मत्त हस्तियोंकी सूंड़ि के उछालनेसे तटके निकट क्रीड़ा करते वंदरोंके समूह त्रासित होते हैं वह सिप्रा हस्तियोंके मस्तक से पड़ते रंगके जालकर पूर्ण मुख जिनके ऐसे चातृक पक्षियों को अत्यंत सुखदायिनी है वह सरिता खोदे हैं जमीनमें गंभीर गर्त्त जिन्होंने ऐसे वन सूकरोंके समूह कर व्याप्त व्यभिचारिणी स्त्रियों कर नित्य सेवित और तमाल के वृक्षों से व्याप्त हो रही है ।

मूलप्राकृत

हउंतासु तरछहु णिट्ठुरहो दाढाघायहिं णिट्ठियउ ।
आविप्पणु, ताहिं तरंगिणिहिं मीणिहिगम्भि परिट्ठियउ ॥

संस्कृत छाया

अहंतस्य तार्क्ष्यस्य निष्ठुरस्य दृढघातेन मृत्वा ।
आगत्य तस्यां तरंगिण्यां मीनस्यगर्भे परिस्थितः ॥

मूलार्थ

अभय रुचिकुमार क्षुल्लक कहते हैं कि महाराजा मैं उस निष्ठुर सर्पकी घातसे मरणको प्राप्तहोकर पुनः सिप्रा नदी में मीनके गर्भ में आकर स्थित होनेलगा।

संस्कृत टीकार्थ

तदनंतर मछली के उदर से जन्म ग्रहणकर क्रमपूर्वक वृद्धिंगत होता बड़े २ मगरमच्छोंके शरीर के विदारने में समर्थ तथा आकाश में उछलना उलटा पड़ना जल में फिरना और उल्लंघन करना आदि जलके विभ्रम में अति प्रवीण होगया।

इसीप्रकार सिप्रा के अतिनिर्मल स्वच्छ और चंचल जल में विचरता तैरता और मत्सों के समूह को निगलता काल व्यतीत करनेलगा।

महाराज! पृथ्वीनाथ मेरी माता का जीव जोकि सर्पहुआ था वह मेरे घात से मरकर घोर कर्मों के अनुसार उसी नदी में जल जंतुओं का अधिपति संशुमार हुआ सो दैव योग से मुझे देख पूर्व बैरके अनुबंध से जैसेही तीक्ष्ण नख और दांतों से मुझे पकड़ विदीर्ण करनेका प्रारम्भ कियाथा कि इतने में महाराज यशोमति के महलों की कोमलांगी चन्द्र

वदना दासी निजपगनूपुरोंके शब्द से झनकार करतीं जल केलिके उत्सव में उत्साहित होती सुन्दर वस्त्राभरणों से शोभमाना दिव्य सुगंध से पूरिता कंठगत मुक्ताहार की पंक्ति से दिव्यरूपाकार विनोद पूर्वक सरिताके स्वच्छ जलमें केलि करने लगी ।

राजन् ! उस समयका दृश्य अपूर्व था अर्थात् वे मदमातीं दासिकायें जलकेलिमें मग्न होतींभईं कोई दासिका डुब की लेकर दूर प्रदेश में निकली कोई परस्पर एक दूसरे पर निज कोमल करोंकी चपेटसे जल उछालने लगीं कोई जल में तैरने लगीं इत्यादि अनेक विनोद करतीं भईं ।

मूलप्राकृत

ताणि छतरंतु तरतुजलि येक्कियेक्कु णिसुभयउ ।
खुज्जलिय अम्हंउवरि पडियदिट्ठउ दइयविंयं भियउ ॥

संस्कृतछाया

तावत् निश्चलं तरति तरंत्या एकया एका निशुंभिता ।
कुब्जिका ममउपरि पातिता पश्यत् दैव अभितम् ॥

मूलार्थ

इस प्रकार जलमें निश्चल तैरती तैरती एक दासी ने एक दासीको पीड़ित किया सो दैवकी विचित्रता देखो कि वह मेरे ऊपर आकर पड़ी ।

संस्कृतटीकार्थ

राजन् जिससमय एक दासीने कुब्जिका दासीको धक्का दिया सो वह मेरे (मत्सके) ऊपर आकर पड़ी उस समय संशुमारने जो मुझे पकड़रक्खा था सो मुझे तो छोड़दिया किंतु तत्काल उस दासीको पकड़कर नख और दांतों से विदारने लगा ।

नृपवर ! उस समय हाहाकार करतीं भयकर कंपित होतीं समस्त दासीं जलसे भागीं तत्पश्चात् यह रानीके किंकरोंने महाराज यशोमतिके निकट जाकर विज्ञप्तकी । कि श्री महाराज आपकर मानिता कुब्जिा दासीको जलकेलि करते समय मांसलुब्ध संश्रुमार नामक जल जंतुने नख और दांतोंसे उसका चर्वणाकिया । ऐसा सुन क्रोधकर कंपितगात्र होकर महाराज यशोमतिने कहा कि ऐसा हिंसक जन्तु किसको प्रिय होगा, जिसने सूकर, भांसर आदि वनवासी जीवोंको जलपान करते समय भक्षण किया, तथा स्नान क्रीड़ा करते में अनेक नरनारियोंको ग्रसित किया उस दोष की खानि संश्रुमार नामक जलजन्तुको शीघ्रही नेत्रोंको असुंन्दर और अग्निकी ज्वाला सदृश दीप्यमान यमराजके नगरप्रति भेजो । ऐसा कह अनेक योद्धाओं सहित महाराज यशोमति स्वयं सरिताके तट प्रति जाकर धीमरोंको आदेशित किया कि शीघ्रतर इस नदीके गंभीर द्रहों में से जैसे होसके उसप्रकार खोजकर संश्रुमारको पकड़ो ।

नृपवर ! महाराज यशोमति के क्रोध पूर्ण शब्द से आकाश पूरित होगया उसे सुनकर अनेक धीमरगण तत्काल सिप्रा के मध्य पड़े सो उनके प्रचंड भुजदंडों के अवगाहित जल से दोनों तट व्याप्त हो गया पश्चात् घूमते फिरते धीवरों ने कोलाहल शब्दकर वक्र कीला युक्त वंशीसे यद्यपि उस संश्रुमारका कंठ वीधित किया तथापि उछलता कूदता संश्रुमार धीवरों द्वारा नदीके बाहर निकाल स्थलमें धारण किया ।

नृपेश ! उस समय संश्रुमार को देख क्रोधिष्ट भाव से

महाराज ने आदेश दिया कि इस दुष्ट जंतुको अग्निमें दग्ध करो ऐसा सुनकर किंकरोंने अग्नि प्रज्वलित कर संशुमारका हवन कर दिया।

मूल प्राकृत

हउं विवरहो होंतउ णीसरीउ जावक्कीमिमाणतुसरु।
ताकयमारण कलयलु चवलु अयउ पुरुधीवरणीयरु॥

संस्कृत छाया

अहंविवरात् भव निसृत्य यावत्तिष्टामि क्रीड़न्सरसि।
तावत्कृतमारण कलकलः चपलः आगतः पुरः धीवरनिकरः॥

भूलार्थ

राजन्! जबतक मैं विवरसे निकल नदीमें क्रीड़ा करता तिष्ठाथा कि इतने में किया है मारनेका किलकिलाट शब्द जिन्होंने ऐसे धीवर समूह आगे आए।

नृपवर! उस समय धीवरोंने सूत्र निर्मित सघन जाल मेरे ऊपर डाला सो मैं संग्राम में निर्जित शत्रुकी भांति उस जाल में फसगया उस समय जैसे गृहसंबंधी खोटे व्यापारों से कोश कृमि लट और तंतुओं के समूह से दुःखी होता है तथा जैसे तीव्र मोहके उदय से संसारी जीव पीड़ित होताहै उसीप्रकार जाल में फंसकर धीवरोंके पादप्रहार से क्लेशित होता भया।

पृथ्वीनाथ! जिस समय धीवरों ने जाल में फंसाकर मुझे नदीकेतट प्रति रक्खा उसीसमय एक पुरुषने कहा कि इस मत्स को मारना नहीं क्योंकि इसके मारने से अति दुर्गंध फैलेगी ऐसा कह पूर्व भवके पुत्र यशोमति को दिखाया सो यशोमति ने मेरा शरीर देख आगमवेदी ब्राह्मणोंसे मेरे शारीरिक लक्षण

वर्णन करनेको कहा तब विप्रजन मेरे गात्रको उलटपलटकर सामुद्रिक शास्त्रसे लक्षण कहनेलगे ।

मूल प्राकृत

इहु मच्छउ पंडुरोहियउ णइवाहहो सम्मुहुतरइ ।
वहु हव्व कव्व जोगउ भणिवि वेउ भट्टारउ वज्जरइ ॥

संस्कृतछाया

एषः मत्स्यः पांडुरोहितः नदिप्रवाहस्य सन्मुखंतराति ।
बहुहव्यकव्य योग्यं भणित्वा वेदः भट्टारकः कथयति ॥

मूलार्थ

यह पांडुरोहित जातिका मत्स्य नदीके प्रवाह में सन्मुख तैरता है तथा यह मच्छ देव और पितरजनोंका बलिकी योग्य है ऐसा कहकर वेद ब्राह्मण कहनेलगे ।

संस्कृत टीकार्थ

श्रीविश्नु भगवान्ने जगत्की रक्षाके अर्थ मत्सावतार धारणकर षट्अंगयुक्त वेदको समुद्रमें निकाला इसीसे ब्राह्मणोंने मत्सको अति पवित्र माना है इत्यादि कहकर विप्रों ने महाराज को संमतिदी कि मत्स महारानी अमृतादेवी के महल में भेजना चाहिये फिर क्याथा तत्कालही महाराज ने भी महलों में लेजानेका आदेश देदिया सो दुष्टकर्मा किंकरों ने मुझे (मत्सको) अमृता के मंदिरमें पहुंचादिया ।

नृपवर ! वहां पहुंचजाने से ब्राह्मणोंका प्रयोजन सिद्धि होगया अर्थात् ब्राह्मणोंने अमृतासे कहा कि हे मात परमार्थतः यह रोहित मत्स समस्त मच्छों में उत्तम मानागया है इसकी पूंछका पितरोंके नामसे यदि विप्रोंको भोजन दिया जावे तो अवश्यही पितरोंकी तृप्ति होती है ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय "ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः" की कहावतको चरितार्थ करती अमृताने मुझ (मत्स्यकी) पूंछ कटवाकर सोंठ मिरच आदि मसालों में पक्क करवाकर विप्रोंके अर्थ दी सो वे सकल ब्राह्मण उदरपूर्ण भोजन कर आशीर्वाद दे कर निज घरको गए।

तदनंतर-मेरे शेष शरीरको अनेक मसालों से मिलाकर तप्त तैल के कढ़ाह में डालकर जिस समय पचाया है राजन् उस समय की जो कुछ वेदना मुझे हुई वह मानो मैं ही जानता हूं या केवली भगवानही ज्ञात कर सकते हैं।

श्रीमान् ! जिस समय तप्त तैल में पड़ा पच रहाथा उसी समय जाती स्मरण होने से मैं ने समस्त परिवार को जान लिया जिससे एक तो मानसिक दुःख दूसरा शारीरक कष्ट एवं दोनों क्लेशोंका अनुभव ग्रहण किया।

नृपश्रेष्ठ ! आपभी इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि जिस समय लवण मिरच आदि मसालों में मिलाकर मुझे तप्त तैलमें पचाया होगा उस समय की वेदना क्या नरक की वेदना से किसी प्रकार न्यून हो सकती है कदापि नहीं किंतु नरकों में तो केवल तप्त तैलादि में ही पचाया जाता है मुझे तो लवण मिरच, सोंठ, पीपर आदि तीक्ष्ण मसालों में मिश्रितकर पकाया जिसमें एक तो अग्नि की वेदना दूसरे मसालोंका कष्ट तिस पर भी पक्क होजाने की परीक्षा के अर्थ लोह के नौकदार कीलों से बारबार छेदना इत्यादि कष्टों का कहां तक वर्णन करूं जिन दुःखोंको वाग्वादिनी भी नहीं कह सकती।

मूल प्राकृत

सिज्जंतहु महु वउ सिमिसिमिगइच्चालिय चट्टुय चारिउ।

बहुजीरय मिरिय लवणसउ णिव्वायउ मुहपुरीयउ ॥

संस्कृत छाया

रंध्यमानस्य ममवपुः सूपकारिभिः चालित चट्टभिः चुरितः ।
बहु जीरकामिरच लवणौषधैः प्रसारितं मुख पूरितम् ॥

मूलार्थ

पचते हुए मेरे शरीर को चलायमान करी है करछों से जिन्हों ने ऐसे सूपकार (रसोईदारों) ने पचाया पश्चात् बहुत जीरा, मिरच लवण आदि से पूरित कर मेरे शरीर के स्वादको चखने लगे ॥

संस्कृत टीकार्थ

राजन् ! उस समय सप्तम नरक के नारकी की भांति उछलि २ कर पच्यमान हुआ पश्चात् उस पक्कगात्र को करौंतों से छिन्न भिन्नकर लोहे के कंटकों से ब्राह्मणोंने भक्षण किया तत्पश्चात् मेरे पुत्र यशोमति मेरी स्नेहवती अमृत मतीका जार कूबड़ा आदि समस्त परिवार ने भोजन किया।

नृपश्रेष्ठ ! देखो संसार की विचित्रता कि पितर (मेरे) ही निमित्त मुझे ही भक्षण किया सो यह समस्त अशोभनकर्म जिह्वालंपटी मांसभक्षी विषयाशक्त ब्राह्मणोंका ही कर्त्तव्य है क्योंकि विप्रोंके उपदेश से समस्त अज्ञान लोक हिंसा कर्म को धर्ममान अंगीकार करते हैं इस कारण समस्तदोष ब्राह्मणों के ही ऊपर है ।

तदनंतर—मेरी माता का जीव संशुमारके शरीर से निकल पार्श्वग्राम में बकरी हुई और मैं भी मच्छकी पर्याय से प्राण त्याग दैवयोग से उसी बकरी के गर्भसे उत्पन्न होकर बकरा हुआ पश्चात् क्रम पूर्वक वृद्धिंगत होता जब यौवन

प्राप्त भया तब कामांध होता अपनी माता बकरीके संग मैथुन कर्म करता भया उसी समय यूथ के स्वामी बकराने ईर्षायुक्त क्रोधके आवेश में मुझे मारा सो मैं मरणको प्राप्त होकर अपने ही वीर्य से उसी बकरी के गर्भ से बकरा उत्पन्न हुआ।

यहांपर कोई "शंका" करै कि अपनेही वीर्यसे आपका जन्म किस प्रकार हो सकता है जिसका समाधान इस प्रकार है कि जिस समय स्त्रीका रुधिर और पुरुष के वीर्य का संयोग होता है उस समय से सात दिवस पर्यंत उस में जीव आता है सो सात दिन तक मिला रहता है और यदि सात दिवसके अंदर जीवोत्पत्ति न होवे तो वह पृथक् होकर खिर जाइगा इसी प्रकार जिस समय बकरीके रुधिर और बकराके वीर्यका संयोग हुआ उसी समय बकरे का मरण हुआ सो वह तत्काल उसीके गर्भमें जाकर उपस्थित हो गया इससे पुनः दूसरे पर्यायमें भी बकराही हुआ।

राजन्! तिर्यंचोंमें लज्जा नहीं होती किंतु माता को स्त्री बना लेना सहज है इसी प्रकार मैंने भी माताके साथ भोग किया सो जिस समय मुझे उस वार्त्ताका स्मरण होता है मुझे तीव्र वेदना होती है।

नृपश्रेष्ठ! जब मैं पुनः बकरीके गर्भमें आया और क्रमपूर्वक वृद्धिको प्राप्त होने लगा उस समय यशोमति महाराज मृगया [शिकार] के अर्थ वनमें पधारे सो मृगों के अर्थ समस्त वनमें परिभ्रमण किया परन्तु एक भी हिरण न मिला उस समय जब लौटकर मार्गमें आए तो क्या देखा कि मेरी माता बकरी और यूथनायक बकरा एवं दोनों

मैथुन कर्ममें तत्पर होरहे हैं उस समय क्रोधके आवेश से कुशुमावली के भर्त्तार यशोमति महाराज ने निज भाला की नोक से दोनोंका घात किया पश्चात् निकट आकर देखने लगे कि।

मूलप्राकृत

दोरिणवि दोखंडी हूवाइ ताइ मयाइ रुवंताइ।
गब्भासइ महु अवलोइयइ अट्ठंगइ कंपत्ताइ॥

संस्कृत छाया

द्वौ अपि द्विखंडीभूतौ मृतौ तानि रुदंतौ।
गर्भवासे ममतिष्ठतं अष्टांगं कंपमानं॥

मूलार्थ

बकरा बकरी एवं दोनों द्वे खंड होते और रुदन करते मरणको प्राप्त हो गये तथा गर्भवासमें तिष्ठते मेरे आठो अंग कंपमान देखे।

संस्कृत टीकार्थ

उस समय यशोमति नरेशने बकरीके उदर से निकलवाकर मुझे बकरा पालक के हस्तगत किया उसने यत्न पूर्वक अन्य बकरियोंका दुग्ध पान कराकर मेरा पालन पोषण किया सो मैं उसके गृहमें वृद्धिको प्राप्त होता भया परन्तु पशु योनि संबंधी अज्ञान दशामें आसित होकर माता भग्नी और बेटी आदिसे मैथुन सेवन करता यूथका स्वामी हो सुख पूर्वक काल व्यतीत करने लगा इतनेमें एक दिन यशोमति महाराज ने कुलदेवता के सन्मुख इस प्रकार प्रार्थना की कि हे मात! हे भट्टारके, हे महिष विदारिणि, हे भगवति, तेरी कृपासे यदि मुझे मृगयाका लाभ हुआ

तो घोटक तुल्य वेगवान् महिषकी वलि दूंगा ऐसा कहकर राजा ने शिकार के अर्थ महारण्यमें प्रवेश किया सो वहां तत्काल शिकारका लाभ हुआ पश्चात् लौटकर घरको आए वहां देवीके अर्थ स्थूल महिषा बुलाया उसे मार उसके मांस से देवीको रसवती कीनी उसी समय रसोईदारों ने मुझ यूथनायक बकरेको लाकर वहीं बांध दिया सो दैवयोग से एक चील्हने किसी जंतुका मांस लाकर मेरे निकट डाल दिया सो मैं उसे सूंघकर तत्काल ऊंल गया तव मुझे पुनः लंवी डोरीसे ऐसे बांधा जैसे संसारी जीव कर्मों के बंधन से वंध जाते हैं।

तत्पश्चात् कृतकर्म महीनाथ यशोमति ने ब्राह्मणों के निमित्त मांसरस घृत प्रवाह और दुग्धादि भोजन के अर्थ देवीके अग्रभागमें महिषकी वलिदेकर इस प्रकार कहता भया।

मूल प्राकृत

परमेसरि सूलकवालधारि महिसामिसवसरुधिरं पिय।
कंचाइणि पीणिज्जइ भणिविराए परिणायविदिय॥

संस्कृतछाया।

हे परमेश्वरि त्रसूलकपालधारणि महिषामिषवसारुधिरये।
हे कात्यायणिप्रशन्नाभवभणित्वा राजाउत्तारय(वलिं) दत्तवान्

मूलार्थ।

हे परमेश्वरि हे त्रशूलकपाल धारिणि, हे महिषके आमिष वसा और रुधिरकी पीने वाली, हे कात्यायनि मेरेपर प्रसन्न होउ ऐसा कहकर राजा मांस उत्तारण कर वलि देता भया।

संस्कृतटीकार्थ

राजन्! अज्ञानीजन हिंसाकर्म करते किंचित् भी शंकित

नहीं होते उन मिथ्या मार्गियों के हृदय में इसबात का पूर्ण विश्वास होरहा है कि दीनपशुओंकी बालिदेनेसे देवी प्रशन्न होकर समस्त कार्योंकी सिद्धि करती है हा धिक्कार होउ उन मूर्खोंकी बुद्धिपर कि जे परजीवोंका घातकर निज कार्य की सिद्धि मानते हैं।

मूलप्राकृत

अणेक्काहि हयारि पलकबलय थिप्पिर तुप्पधारयं।
दाउभोज्ज मज्जसुप्प वहुरसविसिहिय छुहवियारयं॥

सं० छाया

अन्येभ्यः अपिहयारि पलकंवलं स्तब्धघृत धारकं।
दत्तं भोज्जुं मज्जा।शिखरणं सुद्गसूपः विनीह्र क्षुधाविकारं॥

मूलार्थ

तत्पश्चात् अन्यजनोंके अर्थ बहुतघृतयुक्त महिषके मांस के ग्रास दिये तथा क्षुधाके विकारको दूर करनेवाले भोजन योग्य अनेक रस युक्त मदिरा और मूंग की दाल भी दी।

संस्कृत टीकार्थ

तदनंतर अनेक वस्त्र और गौओंका दान देकर महाराज ने कहा कि यह हमारा समस्त दान स्वर्ग में तिष्टे हुए. हमारे पिता के निकट पहुंचे।

राजन्! उस समय क्षुधा तृषा से पीड़ित मैं बकरा उसी स्थान प्राति दृढ़ रज्जु से बंधा हुआ था सो महाराज यशोमति के वाक्यों से जाती स्मरण प्राप्त होकर निज हृदय में विचारने लगा कि इस समय तोमैं वस्त्र अलंकार वर्जित भूंखा प्यासा रस्सी से बंधा हुआ हूं मेरे पुत्र ने गर्भ रहित

---

१ महिष मांस ग्रासः

अनेक प्रकार दान किया सो निकट तिष्टे हुए मेरे को कुछ नहीं मिला तो अन्य दूरवर्ती जीवोंको किसप्रकार मिलताहोगा

नृपवर! उस समय मेरा समस्त परवार अनेक रसयुक्त व्यंजनों का भोजन करै मैं वहांपर भूख प्यास से पीड़ित सब के मुखकी ओर देखूं किंतु किसीने यहभी न कहा कि एक ग्रास इसेभी देवें जब कि मेरे निमित्त असंख्य धनका दान कियागया और निकट तिष्टेहुए मुझे किंचितभी न मिला तो निश्चयहुआ कि समस्त दान ब्राह्मणोंके उदर पूर्णार्थही होता है किंतु किसी जीवको नहीं मिलसकता ।

श्रीनाथ! जहां मेरापुत्र यशोमति! निजमाता सहित भोजन करता निकटस्थ लोकोंको रंजित कररहाथा उस समय मैंने समस्त परिवार और अंतःपुरको देखा परंतु निज प्रिया अमृतमतीको न देखा इतने में गलित मांसकी दारुण दुर्गंध आई उस समय एक दासीने दूसरीप्रति कहा ।

एकदासी! प्रियभगनी कैसी मृतमहिषके सड़ेहुए मांसकी दुर्गंध आती है जिससे नाक फटीजाती है बहिन यह महापूति गंध कहांसे आई ।

दूसरी–अरीमुग्धे तूतो निरी भोली है कहीं ऐसी पैसी गंध सड़े भैंसाकी होती है बहिन यह तो मछलीके सड़े मांस कैसी मालूम होती है आ हा यह तो नाक फाड़े डालती है।

तीसरी–(नाकबंदकरती) अरी चलो यहां से इस महा दुर्गंध से वमनहुई जाती। हाय हाय यह कहांसे आई बहिन मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि महारानी अमृतामती के गलित कुष्टसे यह वीभत्स गंध आती है।

अन्यदासी—(हाथचलातीहुई) अरी सबकी सब पागल होगई हो तुमको कुछ मालूमभी है कि योंहीं अपनी २ टर्र टर्र मचारक्खी है ।

एकदासी—(मुंह बनाकर) यह आई बड़ी पंडिता कहीं की,जो तुम जानतीहो तो तुम्हीं कहो कोरे हाथ क्योंचलातीहो

वहीदासी—[धीरेसे] सुनों मैं कहती हूं एक बातकी सबकी सब सपथ खाउ कि किसीसे मेरा नाम तो न लोगी सबने सपथखाई पश्चात् वह दासी कहनेलगी कि इस दुष्टनी अमृताने प्रियजार कूबड़ाके निमित्त भोजनों में हलाहल विष देकर निज भर्त्तार महाराज यशोधर और अपनी सास महारानी चंद्रमतीको प्राणांत कियाहै जिसके पापसे नाशिका, ओष्ठ, हस्त, पाद आदि सर्वअंग कुष्टरोग से गलित होरहे हैं उसीकी यह महादारुण दुर्गंध है समझीं ?

नृपवर ! उपरोक्त प्रकार दासीके वचनोंसे मेराभी चंचल चित्त गृहके मध्य शयनी अमृताकी ओर गया उस समय-

मूलप्राकृत

हउजाणमि आमिसु पुजियउ भोजनवेलइ ढोइउ ।
आयणिवि कामिनिवयणगइ देविहि वयणपलोइयउ ॥

संस्कृत छाया ।

अहंजानामि आमिषपुंजं भोजन वेलायां ढौकितम् ।
आकर्ण्य अतः कामिनीवचनगतिं देव्याः वदनंप्रलोकितं(मया)

मूलार्थ

राजन् ! कामिनी (दासी) के वचनोंको सुनकर अमृतादेवीके मुखको देखा तो मुझे ऐसा ज्ञात हुआ जैसा भोजन समय मांस का पिंड होता है ।

संस्कृतटीकार्थ ।

नृपवर ! उस समय समस्त अवयवोंकर रहित असुरगात्र अमृताको मैंने बहुत देरतक देखा परंतु तोभी उसे न पहचान सका अर्थात् उसकी अवस्था क्षण क्षण प्रति अन्य अन्य प्रकार होती जाती थी ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय रानीकी दशा देखकर यही निश्चय होता था कि इस समय इस पर पुरुषाशक्ता व्यभिचारिणी से रोषित होकर विधाता ने इसकी यह अवस्था बनाई है अर्थात् जे ओष्ट जारकी दृष्टिमें बिंबाफल [किंदुरी] समान भासतेथे वे समस्त गलगए जे नख प्रियजार के वक्षस्थलको चिन्हित करतेथे वे अतिशय नष्ट भ्रष्ट होगए जे स्वेत श्याम और रतनार नेत्र जारकी दृष्टि में स्वेत श्याम और आरक्त कमलदल तुल्य ज्ञात होतेथे वे फूटी कपर्दिका [कोड़ी] तुल्य होगए जे पीनोन्नत कुचयुग्म जार पुरुषके कराग्रह से भूषित होतेथे वे पीव और रुधिरकर पूर्ण फूटघट तुल्य होगए जेकेशभार जारके नेत्रों में भ्रमर विनिंदित ज्ञात होतेथे उनका नाम निशान तक न रहा । भावार्थ जो जो अंग प्रियजार कूबड़ा ने अपने हाथों से स्पर्शित किया वह सर्वगात्र विधातानें क्रोधित होकर जारकर्मका फल प्रत्यक्ष दिखाने के अर्थ नष्ट भ्रष्ट करादिया ।

नृपवर ! अतितीव्र पापका फल प्रत्यक्ष होता है और यदि ऐसा न होता तो सकल संसार पापसे क्योंकर भयभीत होता परन्तु प्रत्यक्ष देखते हुए भी दुष्टजनों को बोध नहीं होता यह उनके भवितव्यका दोष है ।

नृपवर ! जिस समय उपरोक्त विचारमें मग्नथा कि

इतने में उस पापिनी अमृता ने पुकार कर रसोईदार से कहा कि -

मूल प्राकृत।

लइ अछउदेवहं बंभणाहं परिवायवि परिपुजिश्चउ।
ण सुहाइ मज्झु चिलिसावणउ महिसयमासुणिउजियउ ॥

संस्कृत छाया

अलंदूरंतिष्ट देवेभ्यः ब्राह्मणेभ्यः उत्तार्य परिपूजितं।
नरोचतेमम वीभत्सकरं घृणास्पदं महिषमांसं नियोजितं ॥

मूलार्थ

जो देव और ब्राह्मणोंके अर्थ उतारणकर पूजन किया मांससे पूरीपड़ो दूरतिष्टो वह घृणास्पद ग्लान कारक महिषका मांस जो लाकर दिया वह मुझे नहीं रुचता।

संस्कृत टीकार्थ

राजन्! उस समय कुष्टरोग पीड़ित अमृताने रसोईदारसे और भी पुकारकर कहा कि अब मेरे अर्थ सूकर या हिरणका मांस शीघ्र लाकर देउ नहा मैं रुचिपूर्वक भक्षण करूंगी।

इस प्रकार रानीकी पुकार सुन निकट तिष्टे महाराज यशोमति ने कहा कि इस समय सूकर और हिरणके मांस का मिलना तो दुष्कर है किंतु बकरेका मांसभी भट्ट लोगों ने पवित्र और मिष्ट कहाहै इससे हे रसोईदार तू इस बकरे के पीछेके पगको काट इसे पक्कर माताको भक्षणार्थ देउ।

नृपवर! उस समय निकट बंधा हुआ मैं राजाकी आज्ञा सुनकर सकंपगात्र होता निज हृदयमें विचारने लगा हा! बड़ा कष्ट है कि मेराही पुत्र मेरा पग भग्नकर मेरी स्त्रीके भोजनार्थ देनेकी आज्ञा देता है तो अब मेरी रक्षा कौन

कर सकता है इस कारण कर्म फल विचारता संतोषपूर्वक चुप हो गया।

पश्चात् महाराज यशोमतिकी आज्ञा न पालनेमें असमर्थ रसोईदार ने तीक्ष्ण छुरिकासे मेरा पग काट उत्तम मसालों सहित घृतमें पक्कर अमृता को दिया सो वह कुष्ट व्याधि पीड़ित दुर्गंध गात्रा दुष्टाने रुचिपूर्वक भक्षण किया।

पृथ्वीनाथ! मांसभक्षी जिह्वालंपटी विप्रोंकी वातों में आकर जो मनुष्य हिंसा कर्म करता है वह अवश्यही तीव्र वेदनायुक्त नरकोंकी पृथ्वीमें जाकर अनेक कष्ट सहन करता है पश्चात् अनंत काल पर्यंत कुयोनियों में भ्रमण करता असंख्य क्लेशों का पात्र वनता है।

पृथ्वीनाथ! उस समय पगभग्न हो जानेसे तीव्रवेदना सहन करता तीन पगोंसे खड़ा २ दशों दिशाओं की ओर देखता विचार करने लगा कि अव मैं किसका आश्रय ग्रहण करूं जवकि मेरे पुत्रने ही आदेश देकर पग तुड़वाया तो अव किसकी शरण जाउं।

राजन्! मारिदत्त अव अन्यकथांतर आपको सुनाताहूं

मूलप्राकृत

जाछाली होइ विपुणवि मयभुंजेवि मायरि पावहलु।
सासिंधुविसये महिसिंहे उपरे महिसउ हूयउ भीमवलु॥

संस्कृतछाया

या छागी भूत्वा अपि पुनरपि मृता भुक्तां माता पापफलं।
सा सिंधु विषये महिष्याः उदरे महिषः जातः भीमवलं॥

मूलार्थ

जो माता चंद्रमतीका जीव वकरी होकर पापफल भोगती

भई वह मरण प्राप्त होकर अमर सिंधु देशमें महिषी (भैंस) के उदरसे भीमवली महिष [भैंसा] हुआ।

संस्कृत टीकार्थ

राजन् ! एक दिन भ्रमण करता महिष सिप्रा नदीके जल में निमग्न हो रहाथा उसी समय खड्गधारी योधाओं कर रक्षित निज पादघात से धरातल को भग्न करता महाराज यशोमति की सवारी का घोटक जल पीनेको आया उस समय उस घोड़ा को देख जातीय वैर से क्रोधिष्ट हो कर महिष ने निज मस्तक और तीक्ष्ण शृंगों से उसे विदीर्ण किया पश्चात् राजकिंकरों ने जिस तिस प्रकार से माहिषको बांध महाराज यशोमतिके निकट लेजाकर निवेदन करने लगे कि श्री महाराज आपकी सवारीका घोड़ा इस दुष्ट ने मारा है इससे यह सदोषी है सो आप जो आज्ञा देइं वही किया जाय।

नृपवर ! उस समय घोड़ा के मरणका शब्द किंकरोंके मुखसे सुन प्रथमतो स्तब्ध होगए पश्चात् क्रोधानलसे प्रज्वलित होकर साहसा आदेश करते भए कि इस अश्वघातक दुष्ट महिष को इस प्रकार मारो कि जिससे बहुत विलम्व में इसका जीवन नष्ट होइ तत्पश्चात् रसोईदार को बुलाकर महाराज ने आदेश दिया कि इस माहिष को जीता ही पकावो जिससे इसे घोटक के मारने का अपराध स्मरणरहे।

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार महाराज के आदेश से रसोईदारों ने तत्काल उस माहिषकी नाशिकामें रस्सी डालकर उसके मुख को और पगों को बांध लोह के कराहमें छोड़ दिया पश्चात् कराहके नीचे अग्नि प्रज्वलित करी तदनंतर

लवणादिक्षार युक्त सोंठ, मिरच, पीपल आदि तीक्ष्ण पदार्थों के जल से उसका गात्र सींचा।

नृपश्रेष्ठ ! एक तो अग्निकी तीव्रवेदना दूसरे तीक्ष्ण और क्षार पदार्थोंका क्लेश इससे वह माहिष तड़फड़ाता हुआ जिह्वा निकालकर विरस शब्द करता भया।

मूल प्राकृत

तं पीयउ तराहासोसिएणं विरसं तहो वम्मइ हयइं।
तेणंतइ वहुमल पूरियइं पच्छिमदारं णिग्गयइं॥

संस्कृत छाया

तं पीतं तृष्णा शोषितेन विरसंतस्य मार्माणि हतानि।
तेन अंत्राणि बहुमूलपूरितानि पश्चिमद्वारे निर्गतानि॥

मूलार्थ

तृष्णाकर शोषित जैसे तैसे विरस शब्द करते महिष ने वह क्षार जल पिया जिससे उसके मर्मस्थानोंका घात होकर अंत्रजाल (आंतों के समूह) पश्चिमद्वार से निकल जाते भये॥

संस्कृतटीकार्थ

जब जहां तहां पक्व होने लगा तब रसोईदारों द्वारा तीक्ष्ण शस्त्र से छेदकर पश्चात् चंद्रमतीके नामपर उत्तम ब्राह्मणोंको दिया गया।

राजन् ! मेरी माता चंद्रमतीके जीव महिषकी तो यह अवस्था हुई अब मेरी क्या दशा हुई सो भी सुन लीजिये अर्थात् जहां महिष की दुर्दशा हो रही थी वहीं पर रक्षा रहित पगकी वेदना से पुकारते हुए मुझे देख राजा की आज्ञानुसार दासों ने मुझे पकड़कर प्राणघातक प्रज्वलित अग्नि पुंजमें क्षेप दिया पश्चात् जैसा ही पक्व होता था

वैसाही काट काटकर डाभ लिये संकल्प पढ़ते ब्राह्मणों को मेरी [महाराज यशोधर की] तृप्तिके अर्थ देते जाते थे और विप्र समूह बड़े स्वाद से भक्षण करते आशीर्वाद देतेथे

राजन् मारिदत्त ! संसारकी विचित्रता और ब्राह्मणों की स्वार्थपरायणता देखो कि मेरी माता और मेरी तृप्ति के अर्थ हम दोनों के शरीरका घात किया जाय और ब्राह्मणोंका उदर पूर्ण किया जाय धिक्कार है इस कपट चातुर्यता को कि जिसके उपदेश से असंख्य जीवोंका अधः पतन होता है।

पृथ्वीनाथ ! यह भी एक अंधेर ही है कि उदर पूर्ण होइ किसी का और तृप्ति होइ किसी की परंतु अज्ञानी मूर्ख जन इसी निंद्य उपदेशको श्रवण कर ऐसे शीघ्र मान्यकर बैठते हैं और अपना अकल्याणकर लेते हैं। धिक् धिक् धिगस्तु

श्रीमान् ! उस समय अग्नि की तीव्र वेदना सहन करते हम दोनों अर्थात् महिष और बकरा के प्राण एक साथ निकले सो वहां से उज्जैनी के निकट मातंग भीलोंके नगर के बाड़े में जन्म लिया जहां किसी स्थान प्रति गौओं के मस्तकों के अस्थि पुंज पड़े हुए हैं कहीं पशुओं के गलित कलेवर से निकलते लटों के समूह एकत्रित हैं कोई स्थल पशुओंके कलेवरसे पड़ते रुधिरसे व्याप्त हो रहा है जहांकी भीतें अनेक प्रकारके सघन चर्मसे आच्छादितहैं जहांका आंगण मृग और मेषोंके शृंगोंसे संकुलित और कुर्कुटोंके चरणोंके प्रहारसे उठी धूलिकर धूसरितहै कोई प्रदेश बिखरे हुए मृत शरीरकी मालाओंके समूहसे पूर्ण है किसी स्थान प्रति अग्नि द्वारा पकते कुत्तोंके कलेवर के

रसकी आशासे पड़ते काकोंके समूह विरस शब्द कर रहे हैं किसी स्थान प्रति मांस वसा और चर्म के धूम्रकी लहर उठ रही है।

राजन्! उसी महाघृणास्पद मातंगके गृहमें अनेक कुर्कुट [मुर्ग] पले हुए थे।

मूलप्राकृत

कुक्कुडिपहि जायइं गब्भे ताहि अम्हइं वेगिा वि पिल्लाइं।
छुडु छुडु तत्तियहिं विणिग्गयइं उक्कारइं मिण वल्लाइं॥

संस्कृत छाया॥

कुर्कुटिका अपि·······जातौगर्भे आवां द्वौ अपिपिल्लकौ।
यदा यदा अंगकान् विनिर्गतौ कतरवारपुंजस्थाने नवीनौ॥

मूलार्थ

हम दोनोंही जीव कूकड़ी (मुर्गी) के गर्भमें उत्पन्न होकर पश्चात् दोनों बालक नवीन रूपके धारक अंडा से बाहर निकलते भये।

सं० टीकार्थ।

राजन्! हम दोनोंका जन्म हुए पश्चात् हमारे पिता मुर्गको बिलाव ने ऐसा पकड़ा कि उसके कंठका अस्थि भग्न होकर वह प्राणांत हो गया तदनंतर किंचित काल व्यतीत हुए पश्चात् हमारी माताको भी मार्जारने भक्षण किया अब हम दोनों कूकड़ा (मुर्ग) कूंकूं शब्द करते उस चांडालके अमनोज्ञ गृहके अंगणमें विचरने लगे उस समय घरकी स्वामिनीको हमारा शब्द सहन न होनेसे उसने एक अस्थिखंडसे हमारे दोनोंके पगोंको भग्न किया।

राजन्! इतने परभी वह चुप न हुई किंतु उसने हम दोनों कुर्कुटोंके पग बांधकर मांसलिप्त और कलेवर पूर्ण

घरमें चर्म निर्मित्त ढक्कनके नीचे बंदकर दिया उस समय उदयागत कर्मफल भोगते दुर्द्धर गृहमें कालपेच्च करने लगे।

नृपवर ! पूर्व जिस समय मैं यशोधर नामका मंडलेश्वर राजाथा उस समय मैंने जिस प्रकार अनेक नृपगणों को बंदी बनाकर कारागृहमें स्थापित किये थे उसी कर्मका यह फल मिला कि चांडालके दुर्गंध पूर्णगृहमें पग बंधे हुए हम दोनोंही रक्खे गए।

पृथ्वीनाथ ! यह जीव जिस समय परजीवको दुःख देता हुआ कुत्सित कर्म करताहै उस समय उसे इस बात का किंचित् भी विचार नहीं होता कि इस दुष्कर्मका क्या फल मुझे मिलेगा किंतु जब उस कर्मके फलको भोगता है उस समय यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने पूर्वअवस्थामें जो अशुभ कर्म किये थे उनसे असंख्य गुणित दुखों का पात्र बनना पड़ा उस समय पश्चाताप करता है कि हाय पूर्व दशामें यदि पापकर्म न करता तो ये दुःख क्यों देखना पड़ता इत्यादि अनेक प्रकार पीड़ित होता है उसी प्रकार हम दोनों कुर्कुट चांडालके गृहमें पड़े हुए पश्चाताप रूप अग्निसे संतप्त हो रहे थे।

मूलप्राकृत

सीउएहे वाएं पीडियए छुहतराहा संसत्ताइं।
चंडालणिलये णिवसंताइं दुःखपरं पत्ताइं॥

संस्कृत छाया

शीतोष्णवातेभ्यः पीड़ितौ क्षुधातृषाशक्तौ।
चांडाल निलये निवसंतौ दुःखपरंपरा प्राप्तौ॥

मूलार्थ।

शीत उष्ण पवनसे पीड़ित और क्षुधातृषासे आशक्त

चांडाल के गृहमें निवास करते दुःखोंकी परंपरा को प्राप्त होते भए।

संस्कृतटीकार्थ

नृपवर! उस चांडालके गृहमें दुःसह कष्ट पड़नें से दुःखित अंग हम दोनों कुर्कुट अन्य प्राणियों के प्राणों को पीड़ित करते भक्षण करने लगे।

राजन्! अब हम दोनोंही विचित्र चित्रवर्ण पुच्छ से सुन्दर और तीक्ष्ण चंचुसे भूमिगत सूक्ष्म जंतुओंका भक्षण करते परस्पर चपलता पूर्वक चरण युद्ध करते पृथ्वीकी रज से धूसरित गात्र होते जीवराशिके खंडने में प्रवीण इतस्ततः घूमने रूप स्वभावके धारक और चौरोंकी घात में रत्त होकर क्रीड़ा करने लगे।

इसी प्रकार भ्रमण करते हम दोनों को सत्पुरुषों के अभिप्राय से पृथक कोटपाल ने देखा सो प्रसन्न चित्त होकर चांडाल द्वारा अपने निकट बुलाकर हमारे गात्रपर स्नेह पूर्वक हाथ फेरा सो हमको ऐसा आनंद हुआ मानो पूर्व जन्मके पुत्र यशोमतिके ही हस्तगत हुए हों।

नृपवर! एकदिवस हम दोनोहीं कोटपालके द्वारके अग्र भागमें क्रीड़ा करतेथे इतनेमें दैवयोगसे महाराज यशोमति की सवारी उधरसे निकली सो रूप रिद्धिके भाजन हम दोनों को स्नेहकर रुचिकर नेत्रोंसे देख कोटपाल से कहने लगे कि ये दोनों कुकड़े शारीरक लक्षणोंकी परीक्षा करनेसे अति उत्तम ज्ञातहोते हैं इस कारण इन दोनों बच्चोंको गृहांगणके जल और अन्न से तृप्तिकर इनका यत्नपूर्वक पालन पोषण करो। कोटपाल! जब ये जवान होइगे तब अपनी सुंदर

चंचु और तीक्ष्ण नखोंसे पत्नोंको फड़फड़ातेहुए शत्रुवर्गका क्षयकरेंगे ये दोनोंबालक यौवनारंभमें निज चरणोंकी घातसे पृथ्वीतलको खोदते, रक्त नेत्रकरते, भृकुटीके विकारको प्रकाश करते, निज कंठगत केशरको फुलाकर जब युद्ध करेंगे उससमय गमन करते पाथिकजनों के चित्तको मोहित करेंगे उसी समय हमभी इनके युद्धकी कुशलता देखेंगे इस कारण तुम इनको यत्नपूर्वक रक्खो।

मूल प्राकृत

ताणिसुणेवि णरवइ णियमहिं भिच्चेठं वियइणियभवने।
गयरयणि तित्थपंजर ठियहंसुप्पहाइ जहिंराउवणे॥

संस्कृत छाया

तच्छ्रुत्वा नरपतिर्नियमविधिं भृत्येनस्थापितौ निजभवने।
गतारजनीतत्रपंजरस्थयोः सुप्रभातेयत्रराजावर्त्ततेवने॥

मूलार्थ

उपरोक्त प्रकार राजाका आदेश श्रवणकर कोटपाल ने अपने घर में स्थापनकिया पश्चात् जब रात्रि व्यतीतहुई तब प्रभात समय पिंजरा में स्थित हम दोनों को वनमें जहां राजा उपस्थितथे वहां लेगए।

वहबन ! मंद पवनकर हालते वृक्षोंके पत्र तथा पक्षियों के कलकलाट शब्दसे पूर्णथा उस वनमें स्वच्छ चंचल वेग युक्त जलके नीझरनोंके जल से कूप तड़ाग पूर्ण होरहे थे जितनेमें फूलेहुए कमल और तटोंके वृक्षोंपर बैठे अनेक पक्षीगण मनोहर शब्द करतेथे जहां पवनकर हालते लताओं के पत्रमें मिलेहूए पक्षियों के पक्ष कैसे चित्रित होरहेथे जिस अरण्यमें अनेक जातिके वृक्षोंके विविधि वर्णयुक्त सुगंधित पुष्पोंसे भड़ती रजसे जहां तहां मंडल बनरहेथे।

जिसवनकीं मालतीं लताओंके मंडल में तिष्टते क्रीड़ा करते किन्नर युगलोंके हाथ के बजायेहुए वादित्रोंके शब्द से हिरणोंके समूह मोहित होतेथे।

वह मनोहरवन! आकाश से उतरते देवोंके विमान शिलातलपर तिष्टते क्रीड़ाकरते विद्याधर गणोंसे अति रमणीक दृष्टिगत होताथा।

जिस वनमें गंभीर कर्दममें लोटते सूकर समूह मदोन्मत्त हाथियों के दांतों से भिदे चंदनादि के वृक्षों से सुगंधही निकलती थी।

वह अरण्य पुरवासी स्त्रियोंकर ग्रहणकिये हारोंसे देदीप्यमान चंदनादि वृक्षोंसे सघन शुक सारिकाआदि पक्षियों समूह से व्याप्त और पालाके समूह समान स्वभ्रवर्ण हंसोंके युगलोंकर पूर्ण अत्यंत शोभायमान दृष्टिगत होताथा।

नृपवर! उसी रमणीक उद्यानमें महाराज यशोमति का रमणीक और स्वच्छ मंदिरथा जिसके अवलोकन से ऐसा ज्ञात होताथा मानों देव विद्याधरों ने रमणकरनेके निमित्त मायामयी महल निर्मापित कियाहै।

मूल प्राकृत

तहो यंगणे मंडउ पडरइउ पंचवण्णु किंकिणि मुहलु।
तहिं अम्हइ पंजर एणसहु ठवियइं णं जम मुहिकवलु॥

संस्कृत छाया

तस्यअंगणे पटपः पटरचितः पंचवर्णः किंकिणी मुखरः।
तत्रआवां पंजरेण सह स्थापितौ इव यममुखे कवलं॥

मूलार्थ

उस यशोमति नृप के अंगण में किंकिणी (क्षुद्रघंटिकाओं) कर वाचालित पंचवर्ण और वस्त्र निर्मित मंडफ

में पिंजरा सहित हम दोनों ऐसे स्थापित किये गये मानों यम के मुख में ग्रास ही स्थापन किया।

संस्कृत टीकार्थ

उस वस्त्र विनिर्मित मंडफके निकट ही परताप विनाशक शीतल रक्त पत्रोंकर व्याप्त अशोक वन नरनाथ की भांति शोभा दे रहा था क्योंकि राजा भी परताप नाशक शीतल और रक्त वस्त्रों व्याप्त था।

नृपवर! भवितव्यता के अनुसार उस चौर निवारक पर स्त्री लंपटों को विघ्न स्वरूप और हिंसा में प्रवर्त्तक कोटपाल ने अशोक वृत्त के नीचे प्राशुक शिलापर ध्यानारूढ़ तिष्ठे श्री मुनिराज देखे वे श्री मुनि इस और परलोक की आशा के बंधन से रहित रागद्वेषादि द्वेषों से विरक्त शुभ मन शुभ वचन और शुभ योग एवं तीनों शुभ योगोंकर युक्त किंतु मन वचन और काय के अशुभयोगों से विरक्त माया, मिथ्या और निदान एवं तीनों सल्यों के नाशक लोकत्रय के विजेता कामदेवका खंडनकर लोकत्रय के मंडन श्री सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एवं तीनों रत्नोंकर विभूषित क्रोध, मान, माया और लोभ एवं कषाय चतुष्करूप घृत के भस्म करने को अग्नि समान, आहार भय मैथुन और परिग्रह एवं चार संज्ञाओंसे दूरतिष्ठे ईर्षा, माया, एषणा, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन एवं पांच सुमिति के प्रति पालक तथा पांच मिथ्यात्व, बारह अवृत, पच्चीस कषाय और पंद्रह योग एवं सत्तावन आश्रवों के निरोधक अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह एवं पंच महाव्रतरूप भारके वहने में धुरंधर, अरिहंत, सिद्ध, आ-

चार्य, उपाध्याय और साधु एवं पंच परमेष्ठी के भाव को प्रकाशक तथा पंच परमेष्ठी में पंचम पदके धारक साधुओंके नायक पंचम गति जो मोक्ष ताके विधायिक, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार एवं पंच आचारों के धारक पृथ्वी, काय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय एवं पंच स्थावर तथा द्विइंद्रिय, तिइंद्रिय चोइंद्रिय, और पंचेंद्रिय एवं तृपकाय के जीवों को दया में अति तत्पर, सप्तभयरूप अंधकार के नष्ट करने में सूर्य समान। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति बल, ऋद्धि, तप और शरीर एवं अष्टमदों के दूर करने में आदर युक्त तथा अष्टम पृथ्वी (मोक्ष) के गमन में तत्पर, सिद्धों के अष्ट गुणों में तल्लीन, नवधा ब्रह्मचर्य के धारक तथा ब्रह्म (आत्मा) के ज्ञाता उत्तम क्षमादि दशधाधर्म के प्रतिपालक, स्पर्शन, रसन घ्राण, चक्षु और श्रोतृ एवं पंच इंद्रिय। मन, वचन और काय एवं तीनवल। स्वासोस्वास और आयु एवं दश प्राणों के धारक जीवोंके रक्षक इत्यादि अनेक गुणों के भंडार श्री मुनि पुंगवको देखा।

मूलप्राकृत

एयारह पड़िमाउ सावयहं जेण वियारि वि उचित्तयउ।
उद्धरितं जेण वारह विह तव तेरह चरिय विहत्तियउ॥

संस्कृतछाया।

एकादश प्रतिमाश्रावकानां येन विचार्य उक्ता।
उद्धारितं येन द्वादशविधतपः त्रयोदशचारित्रं विभक्तं॥

मूलार्थ

जिन मुनि पुंगव ने श्रावकों की एकादश प्रतिमाओं का विचार कर वर्णन किया तथा जिन्होंने द्वादश विध तप और त्रयोदश प्रकार चारित्र का प्रतिपादन किया।

संस्कृत टीकार्थ

क्रोध, मान, माया, और लोभकी सेनासहित जिस कामदेव ने तीन जगतको निर्जितकिया उसीमदनको निज तपश्चरण रूप अग्निसे जिन्होंने दग्ध किया उन नग्न मुद्राधारक परम दिगंबर शांतिमूर्ति श्रीआचार्य वर्यको देख रोषचित्त होता कोटपाल निजहृदय में चिंतवन करनेलगा कि इस दुग्ध गर्विष्ट पापिष्ट मलिनगात्र और क्लेशित नग्न मुनिने यह मेरा अत्युत्तम स्थान अपवित्रकिया तथा महा अपशकुन किया इस कारण श्रीमहाराज यशोमतिके मनोरंजक स्थान से इस श्रमणको अवश्य निकालूंगा परंतु इस समय उदासीन भाव से रहना योग्य है पश्चात् किंचित् विलंवकर इस श्रमण से ऐसा अटपटा प्रश्न करूंगा जिसका उत्तरही न वने फिर क्याहै तत्काल मूर्ख वनाकर इस वस्त्र रहितको निकालदूंगा

इसप्रकार विचारकर मायावी कपटाचारी यमराज तुल्य कोटपाल ने श्रीमुनिको साष्टांग नमस्कार किया पश्चात् ध्यानपूर्ण होनेमें श्रीमुनिको यद्यपि इस वातका ज्ञान हो गया कि यह अभक्त दुष्टचित्त है तथापि समभावी मुनिने उसे जिनेंद्र कथित धर्मकी वृद्धि होउ ऐसा आशीर्वाद दिया।

मूल प्राकृत

णउ णिंदइ मच्छरु विछरइ ण पसंसए वट्टइ हरसु ।
समतण कंचणहं महारिसिहं सत्तुवि मित्तु विसमसरिसु

संस्कृतछाया

नतुनिंदके मात्सर्यं विस्तराति न प्रशंस के वर्द्धति हर्षं ।
समतृण कंचनानां महारिषीणांशत्रु अपि मित्र अपि समदर्शी

मूलार्थ

तृण और कंचन है समान जिन के ऐसे महारिषीश्वरों

के निंदकों प्रति मात्सर्य भाव नहीं विस्तारते और न प्रशंसक में हर्ष बढ़ाते हैं उन महामुनियों के शत्रु मित्र में समान दृष्टि है ।

संस्कृत टीकार्थ

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक महाराज मारिदत्तसे और भी कहनेलगे कि राजन् जिस समय उन समभावी मुनिराजने धर्म वृद्धि हो ऐसा शब्दोच्चार किया उस समय धर्म ऐसा शब्द श्रवणकर कोटपालने कहा ।

कोटपाल—रिषिवर ! आपने जो धर्म वृद्धिरूप आशीर्वाद दिया वह शिरोधारण किया परंतु वीर धुरीण योद्धाओंके मतमें तो धनुषही धर्म है तथा उसकी प्रत्यंचा गुण और शत्रुविध्वंसन निमित्त जो वाण छोड़ाजाता है वही मोक्ष है इसके सिवाय न कोई धर्म है न गुण है और न कोई मोक्ष है सो जब कि मोक्षही नहीं तो मोक्ष संबंधी सुख कैसे कहाजाइ इस कारण पंचेंद्रियोंके विषय सेवनमें जो आनंद है वही सुख है और उसी सुख को मैं सुख कर मानताहूं ।

मुने ! तुम इस अरण्यमें निवासकर क्या करतेहो यह दुर्वल शरीर तिसपरभी वस्त्र नहीं, कंवल नहीं, पांवों पगरखी [जूता] नहीं शिरपर पगड़ी नहीं, तुम्हारे आठोंअंग क्षीण खेद खिन्न और मललिप्त प्रक्षाल रहित गात्र नेत्र कपाल में घुसगए हैं रात्रिदिनमें एक निमेषमात्र भी निद्रा नहीं लेते इस प्रकार नेत्र वंदकर किसका ध्यान करतेहो इसमें तो हमारे सरीखे मनुष्योंको भ्रांति उत्पन्न होनी है इस कृत्यमें आपको क्या लाभ होगा इससे तो उत्तम यही होगाकि

इस कोरे आडंबरको छोड़ विषय भोगोंका रुचिपूर्वक सेवनकरो इसप्रकार कोटपाल के बचन सुनकर श्रीमुनिने कहा कि।

मुनिराज—भ्रातृवर ! जीव और कर्म एवं दोनोंका त्रिभागकर परमात्मामें लीन होकर अजर अमर और स्वास्वत स्थान जो निर्वाण है वहां प्रतिजानेकी कामना करते तिष्टे हैं और उसीप्रति लय लगाए हुए हैं।

प्रियवर ! तुमने जो दुर्वल मलिन और वस्त्र रहित शरीरकी निंदाकी सो इस संसार चतुरगतमें भ्रमणकरते पुरुष स्त्री नपुंशक सौम्य शांति और क्रूर प्रचंडहुआ यमदूत तुल्य राजा, पयादा, सेवक, दीन, दलिद्री, रूपवान, कुरूप, धनवान, उज्जलगात्र, नीचकुली, उत्तमगोत्र, वलहीन और अतुलवली भी अनेक बार हुआ इस भ्रमण स्वभावी संसारमें ऐसी कौनसी पर्याय है जिसे इस जीवने धारण न कीहो।

मूलप्राकृत

हुउ अज्जुमेछु नरभवभमणे दालिद्दिउ पुणादविणवई।
सोतिउहोइवि चंडालुहुउ विसमी भवसंसारगई॥

संस्कृतछाया

संजातः आर्यःम्लेच्छः नरभवभ्रमणे दरिद्रः पुनःद्रवणपतिः।
क्षत्रियब्राह्मणोभूत्वापिचांडालःजातःविषमाभवसंसारगतिः॥

मूलार्थ

मनुष्य भवके भ्रमण में आर्य म्लेच्छ दलिद्री और धनवान हुआ पश्चात् क्षत्रिय ब्राह्मण होकर चांडालहुआ इस संसारकी गतिं अति विषम है।

संस्कृतटीकार्थ।

इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते भयानक अरण्य में मांसाहारी क्रूर पशु हुआ तृणभोजी तिर्यंचहुआ

पश्चात् रत्नप्रभादि नरकोंकी भूमिमें महाघातको सहन कर नेवाला नारकी हुआ पुनः जलचर थलचर और नभचर तिर्यंच होकर पापाचारी देवहुआ इस प्रकार जन्म मरण रूप भ्रमर में पड़ा रत्नत्रय रहित अनंते शरीर छोड़े और अनंत शरीर धारणकिये इसीप्रकार जीवते मरते दुःखोंको सहन करते और पापफल भोगते अनंतानंत काल व्यतीत भया।

कोटरक्षक! अनरक्षक संसारमें जेजे क्लेश मैंने सहे उन सबको मैं जानताहूं इसी कारण इंद्रिय जनित विषय सुखोंसे विरक्त होकर भिक्षा भोजन करताहूं सोभी आत्मा को कष्ट देता स्तोक आहार लेता हूं निर्जन वनमें निवास करमौन पूर्वक तिष्ठता हूं कदाचित् धर्मका उपदेश भी देता हूं मोहसे पृथक् होता निद्राभी नहीं लेता साम्य जल से क्रोधाग्निको शांति करता विनयसे मानको भगाता सरल भाव से कपटको दूर करता संतोषसे लोभका तिरस्कार कर ताहूं तथा हास्य नहीं करता लीला विलास नहीं करता उद्वेगको छोड़ता तपाग्निसे मदनके वेगको भस्म करता हूं भय रहित होता शोक नहीं करता किंतु हिंसारंभके आडं- वरसे अति दूर तिष्ठता निज निज आत्मा के ध्यान में मग्न रहता हूं।

मूल प्राकृत

हउं अंध णारी णिहालण एव बहिरउ गेयापणाणए।
पंगुलउ कुतित्थपंथ गमणे मूयउ विकहा वणणए॥

संस्कृत छाया

अहं अंधः नारी निरीक्षणे बधिरःगीताकर्णने।
पंगुः कुतीर्थपथगमने मूकः विकथावर्णने (अस्ति)

मूलार्थ ।

नररक्षक ! मैं स्त्रीके अवलोकनमें अंधा गीतोंके सुनने से बधिर कुत्सित तीर्थके गमन करने में पंगु और विकथा कथन में मूक हूं ।

संस्कृत टीकार्थ

कोटरक्षक ! जीवको आधारभूत जो शरीरहै वह यद्यपि अचेतन है तथापि वृषभों द्वारा चलाए हुए गाड़ाकी भांति चेतन द्वारा चलाया हुआ चेतन सदृशही दृष्टिगत होताहै ।

प्रियवर ! जैसे वृषभों बिना सकट [गाड़ा] नहीं चलता उसी प्रकार पुद्गल परमाणुओंकापिंड जो शरीरहै वह चेतन जीव बिना नहीं चल सकता इस कारण जीवपृथक् है और शरीर भिन्न है ऐसा बिचार मैं दिंगवर भया सो अन्य किसीकी अभिलाषा नहीं करता किंतु केवल मोक्ष की इच्छा करता ध्यानारूढ़ तिष्टता हूं मैं अरण्य वास कर करता आर्त्त रौद्र कुत्सित ध्यानसे विरक्त होकर धर्म ध्यान और शुल्क ध्यानके योगसे आत्माका अवलोकन करताहूं।

यद्यपि मैं शरीरकी स्थिरताके अर्थ आहार ग्रहण करताहूं परंतु उसमें लुब्धता नहीं रखता तथा इंद्रियोंके बल को दमन करता पापाश्रवोंका विसर्जन करता हूं इस दशा में जो आनंन्द है वह लोकत्रय में नहीं है ।

इस प्रकार श्री मुनि पुंगव के बचन सुनकर कोटपाल कहने लगा ।

कोटपाल—मुनिवर्य ! तुमने कहा सो सत्य है परंतु देह और आत्मा को भिन्न कहते हो यह योग्य नहीं क्योंकि जैसे गौके शृंगोंसे दुग्ध नहीं झरता और छत्र बिना छाया

नहीं होती उसी प्रकार जीव बिना मोक्ष नहीं होती तुम सरीखे जो तपाग्निसे आत्मा को संतप्त करते हो सो केवल क्लेश भोगते हो इस कारण जैसा मैं कहूं वह करो तो अवश्य सुख प्राप्त होगी।

मुने ! जैसे पुष्प से गंध भिन्न नहीं उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से पृथक् नहीं किंतु जैसे पुष्प के नाश होने से गंधका विनाश हो जाता है उसी प्रकार देहके नष्ट होनेसे आत्मा का अभाव हो जाता है इस कारण देहके कष्ट देने में आत्मा कष्टित होता है।

इस प्रकार कोटपालके वचन सुन श्रीमुनि कहने लगे।

मुनि०—कोटपाल ! आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है जैसे चंपाका पुष्प तैलमें चपने से उसकी सुगंध पृथक हो जातीहै किंतु पुष्प बना रहताहै इसी प्रकार देह से आत्मा भिन्न हो जाता है।

ऐसा सुन पुनः कोटपाल कहने लगा।

कोटपाल—जबकि तुम देह से आत्माको भिन्न मानते हो तो देहमें आते जाते आत्मा को किसी ने देखाहै यदि तुमने देखा होउ तो तुम ही कहो कि हमने आत्मा देखाहै

मूल प्राकृत

परदीसइ सोणिय सुक्कधरु गब्भंतरि विद्धिगउ।
तं णि सुणवि संजमणिय मणिहि कहइ भडाउ समिमउ।

संस्कृत छाया।

शरीरः दृश्यते शोणितशुक्र गृह गर्भाभ्यंतरे वृद्धिं गतम्।
तच्छ्रुत्वा संयमनियम निधिः कथयति भट्टारकः समितमदः

मूलार्थ

(कोटपाल और भी कहने लगा कि) यह शरीर

शोणित और शुक्र के घर रूप गर्भांतरमें वृद्धि प्राप्त होता देखते हैं (वहां अन्य जीव कहां से आजाता है) ऐसा सुन. संयम और नियम के भंडार तथा शांतिमद श्री भट्टारक (आचार्य) कहते भये ।

संस्कृतटीकार्थ

मुनिराज—भो कोटपाल ! तुम ने कहाकि जीव आते जाते दृष्टिगत नहीं होता सो यह बात सत्य है कि निज अमूर्त्तत्व गुणके सम्बन्ध से यथार्थमें जीव दिखाई नहीं देता परंतु दृष्टिगत न होने से क्या वस्तुका अभाव हो जाता है कदापि नहीं ।

मित्रवर ! जो दूरसे आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा क्या देखा जाता है ? किंतु कर्णों द्वारा ज्ञातहो जाता है इसी प्रकार संसारमें अनेक योनियों प्रति आया हुआ आत्मा यद्यपि निज सूक्ष्मत्व गुणसे दृष्टिगत नहीं होता परंतु अभाव नहीं होता किंतु अनुमान ज्ञान से जाना अवश्य जाता है इसका मुख्य कारण यही है कि जिस इंद्रियका जो विषय है वह उसी इंद्री द्वाराज्ञात होता है किंतु अन्य इंद्रीके विषय को दूसरी इंद्री ग्रहण नहीं कर सकती जैसे नाशिका इंद्री का विषय जो गंध है वह नेत्र कर्ण जिह्वा और स्पर्शद्वारा नहीं जाना जाता, जो स्पर्श इंद्रीका विषय स्पर्शन है वह रसना, नाशिका, नेत्र और कर्ण द्वारा ज्ञात नहीं होता नेत्र इंद्रीका विषय जो वर्ण है उसे स्पर्श रसना, घ्राण और कर्ण नहीं जान सकते रसना इंद्रीका विषय जो स्वाद है वह स्पर्श घ्राण, कर्ण और नेत्रों द्वारा नहीं जाना जाता और कर्ण इंद्रीका विषय जो शब्द है उसका अन्य इंद्रियों द्वारा बोध नहीं हो सकता ।

प्रियवर ! यह तो मूर्तिमान पदार्थका विधान कहा अर्थात् मूर्तीक इंद्रियोंका विषय भी मूर्तिक ही होता है और मूर्तिवंत विषय को मूर्त्तीक इंद्रिय ही ग्रहण कर सकती है किंतु अमूर्त्तिक को नहीं जान सकती ।

कोट रचक ! यह जीव नामक पदार्थ अमूर्त्तीक है वह अमूर्त्तीक केवल ज्ञानका विषय है अर्थात् जीव द्रव्यका केवल ज्ञान द्वारा बोध होता है इसी हेतु से श्री केवली भगवान् उस अमूर्त्तिवंत जीव द्रव्य को प्रत्यक्ष जानते देखते हैं इस प्रकार शरीरस्थ होता हुआ भी देह से पृथक् जीव नामक पदार्थ सिद्धि है ॥

इस प्रकार श्री मुनि के वचन सुन त्याग विक्रम गुण का धारक कोटपाल कहने लगा ।

कोटपाल—मुनि श्रेष्ट ! यह तो आपका कथन हम ने माना परंतु यह तो कहिये कि इस जीवको अनेक योनियों में कौन प्राप्त करता है और कौन इसे लेजाता है।

इसप्रकार कोटपालके प्रश्नकरनेपर मेघवत् गर्जनाकरते असंयमके घातक श्री मुनिपुंगव इसप्रकार उत्तर देते भये।

मुनि—इस चैतन्य आत्मा को अनेक योनियों में ले जानेवाला अचेतन कर्म है वही इस जीवको चार गति और चौरासीलक्ष योनियों में नाच नचाता है उसी कर्म से चतुर्मुखी ब्रह्मा रंभा द्वारा तप भ्रष्ट होकर निज मस्तक पर गर्दभका मुख धारन किया पश्चात् महादेव उसी के घात करने से महाव्रती हुआ ।

कोटपाल ! इस लोक में कर्मोदय ही बलवान हैं जैसे चुंवक पाषाण द्वारा आकर्षित हुआ लोह पिंड नृत्य करने

लगता है उसी प्रकार जीव के रागद्वेषादि भावोंकर पुद्गल परमाणु कर्मस्वरूप होकर जीव को चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण कराते हैं।

मूलप्राकृत

वित्थारुवि संहारुवि अट्ठकम्म पइठिहिं गहिउ।
जगि कुंथु हवेप्पिणु करि हवइ जीउ सरीरमाणु कहउ॥

संस्कृत छाया

विस्तारः अपिसंहारः अपि क्रियते अष्टकर्म प्रकृतिभिः प्रहते।
आत्माजगतिकुंथुः भूत्वाकरी भवति जीवः शरीर प्रमाणकथितः

मूलार्थ

संकोच भी और विस्तारभी कर्म प्रकृतियों द्वारा ग्रहण करता आत्मा जगतमें सूक्ष्म कुंथु होकर हाथी होता है इसी से यह जीव, जीव शरीर प्रमाण वर्णन किया है।

संस्कृत टीकार्थ

मित्रवर! यदि यहजीव ध्रुवलोक प्रमाण सर्वगत निश्चल और क्रियगुण वर्जित सर्वथा मानाजाइगा तो उसके भवो त्पाद और भीषण कर्मबंध किसप्रकार होगा क्योंकि जो शुद्ध जीव होता है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनी और अंतराय एवं चारघातिया तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनी एवं चार अघाती इस प्रकार आठ कर्मोंका बंध किस प्रकार करे तथा गुरुपना शिष्यपना किसके होइ इससे यह सिद्ध है कि यह जीव निज भावोंद्वारा बंधेहुए कर्मोंसेही अनेक कार्य करता पुनः कर्मबंध करे हैं।

प्रियवर! यदि शरीरही को आत्मा मानोगे तो शरीर जड़ होनेसे आत्माभी अचेतन मानना पड़ेगा और जब

आत्मा अचेतन हुआ तो शय्याशन का स्पर्शन अनेक रसों का स्वाद अनेक गंधोंका सूंघना अनेक शब्दोंका सुनना और अनेक वर्णोंका देखना किसके होइगा इस कारण देह को आत्मा मानना सर्वथा विरुद्ध है किंतु देह स्थित होता हुआ भी आत्मा देहसे भिन्न और ज्ञानी है।

चार्वाक मतवालोंका जो बृहस्पति नामका गुरु है वह पृथ्वी, अप, तेज, वायु, और आकाश एवं पदार्थोंके ब्रह्मा हरि हर ईश्वर और शिव एवं पंच नाम प्रतिपादन कर पुनः कहता है कि उपर्युक्त पंच पदार्थोंके समुदायसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द एवं पंच गुण विशिष्ट जीव है।

इस प्रकार चार्वाकका कहना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि।

मूलप्राकृत

णउ फासु णरसु णउरूउतहा गंधुण सद्दुण वणियउं।
परकरणहिं पंचहिं पंचगुण जाणइ मइ आयणियउ॥

संस्कृत छाया

नतु स्पर्शःनरसः नतुरूपं तस्य जीवस्य गंधं न शब्दंनवर्णितं।
केवलंकरणैःपंचभिःपंचगुणान्जानातिमयासुखेनइत्याकर्णितं।

मूलार्थ।

उस जीवके स्पर्श रस, गंध, वर्ण और शब्द एवं पांच में एक भी वर्णन नहीं किया किंतु केवल पांच इंद्रियों द्वारा स्पर्शादि पंच गुणोंको जानताहै इस प्रकार मैंने सुखपूर्वक श्रवण किया है।

संस्कृतटीकार्थ

जीव! अनादि निधन है और चैतन्य गुण युक्त है अमूर्तीक है इस कारण स्पर्शादि पंचगुण जीवमें नहीं किंतु

वही जीव संसार अवस्थामें देह धारणकर पंच इंद्रियों द्वारा उपर्युक्त पंच गुणोंका ज्ञाता दृष्टा है।

इसके सिवाय चार्वाक और भी कहता है कि जो नेत्रों द्वारा दृष्टिगत होता है वही प्रत्यक्ष होने पर प्रमाण भूतहै और जो नेत्रोंके देखे विना अन्य पदार्थका मानना गर्दभ शृंग तुल्य है।

इत्यादि कथन करने वाला सर्वथा एकांत वादी किंतु मिथ्यावादी है क्योंकि किसी पिता तथा पितामह ने रक्खा गृहमें द्रव्य जबकि दृष्टिगत नहीं होता तो क्या वह नहीं है जबकि कानोंसे सुन तो लिया कि अमुक स्थान प्रति द्रव्य का भंडार है परन्तु नेत्रोंसे नहीं देखा तो क्या वहां द्रव्य नहीं है या वह चार्वाक मतानुयायी उस द्रव्यको ग्रहण नहीं करेगा।

जो गर्वसे महंत विषय कषाय रूप रसमें लंपट जो प्रत्यक्षवादी है वह परमाणु आदिक सूक्ष्मपदार्थ राम रावणादि अंतरित और मेरु आदिक दूरस्थ एवं वर्तमान होते हुओंको भी नहीं मानता है।

इसके सिवाय नेत्र इंद्रियके विषय विना अन्य इंद्रियों के विषयको भी ग्रहण नहीं करते होंगे अर्थात् वे पुरुष गीतवात्रादि सुनते हुए भी बधिरहैं तथा कामिनीके स्तन युगलोंके स्पर्शनके आनन्दसे भी अनभिज्ञ रहते होंगे और शत्रुओं द्वारा खड्गादिका घात होते हुए भी उस संवन्धी पीड़ासे दुःखी न होते होंगे और ग्राम नगरादिकोंका दाह, भी देखे बिना न मानते होंगे।

जे प्रत्यक्षवादी देहरहित आत्माको न मानते हुए इस अचेतन देहहीको आत्मा मानते और श्रद्धान करते हैं वे

कच्छवाके रोमोंका दुशाला ओढ़े और आकाशके पुष्पोंका मुकुट रक्खे वंध्याके पुत्रसे वार्त्तालाप करते हैं।

कोटरक्षक ! जे रागी द्वेषी छद्मस्थ ज्ञानी कर्मोदय सहित होते अमूर्त्तीक आत्माको मूर्त्तीक मानते हैं और अदेह परमात्माको जगत्का कर्त्ता मानते हैं उनका कथन प्रमाणभूत नहीं किंतु जो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी हैं उसी का वचन प्रमाण है।

मूलप्राकृत

णिक्कलु णउ जायउ णउ मरइ णु करइ ण धरइ णउ हरइ ।
णिक्कलु अरुवि परमेट्ठि पहु भवण संसरिइ ॥

संस्कृत छाया ॥

निष्कलः नतु जायते नतु मृयते न करोतु न धरति न हरति ।
निष्कल॰ अरुपीव परमेष्ठी प्रभु भवसंसारे न संसरति ॥

मूलार्थ

शरीर रहित (सिद्ध परमेष्ठी) न उत्पन्न होते, न मरते, न करते, न धरते और न कुछ हरते हैं क्योंकि अशरीरी प्रभु भव संसारमें भ्रमण नहीं करते हैं।

संस्कृत टीकार्थ।

अशरीरी परमात्माका स्वरूप उपर्युक्त ज्ञान करले और जो सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशक शरीर सहित भगवान हैं उसका स्वरूप इस प्रकार जानना और श्रद्धान करना योग्य है।

जो इंद्र, प्रत्येंद्र, चंद्र, धरणेंद्र, नरेंद्र, चक्रेंद्र, विद्याधरेंद्र, आदि कर पूजिनीक एक हजार आठ लक्षणोंकर सहित केवल ज्ञान नेत्र के धारक अष्टप्रातिहार्य विराजमान धर्मचक्र कर शोभित ज्ञानावर्ण दर्शनावर्ण मोहनी और अंतराय एवं घातिचतुष्क से विमुक्त किंतु अनंत दर्शन अनंत ज्ञान

अनंत सुख और अनंत वीर्य एवं अनंत चतुष्टयके धारक श्रीअरहंत केवलीके मुखसे आत्माका स्वरूप श्रवण कियाहै वह आत्मा द्रव्यार्थिक नयद्वारा नित्य और पर्यायार्थिक नयकर अनित्य है और जे एकांतबादी आत्माको सर्वथा नित्यही मानते हैं उनके शासन में आत्मा जन्म मरणआदि समस्त कार्योंसे रहित आकाशवत् निर्लेप और अक्रियही कहाजाइगा

जब आत्मा अक्रियहुआ तो नित्य कूटस्थ होजाइगा तो उसमें असंख्य दोषोंका उत्पाद होगा इस कारण आत्मा कथंचित नित्य और कथंचित अनित्य है।

श्रीआप्त भगवान्ने आत्माको अनेकरूप वर्णन किया है और जो अद्वैतवादी भट्ट जीवको एकही कहता है अर्थात् भट्ट कहता है कि जैसे अनेक जलपूरित घटोंमें एकही चंद्रमाका विंव प्रतिबिंबित होकर अनेक रूप दीखता है उसी प्रकार जीव एक होनेपर भी अनेकरूप दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार भट्टका कहना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि यदि जीव एकही होता तो कोई जीव हास्य करता कोई अनेक रुदन करते हैं इसीप्रकार एक रोता है तो अनेक हंसते हैं एक सयन करता है अनेक जागृत होरहे हैं अनेक दया पालन करते हैं अनेक हिंसाकर्म में प्रवृत्तिमान होते हैं कोई स्वस्थ तिष्ठेहुए हैं कोई युद्ध में संलग्न है अनेक शंका उत्पन्न करते शिष्य बनते हैं एक गुरू सबका समाधान करताहै एक राज्य करता है अनेक दासकर्म करते हैं इत्यादि कोई क्रिया में मग्न है कोई किसी कर्म में संलग्न होरहा है यदि चंद्र विंब सदृश भी मानोगे तो अनेक घटोंमें प्राप्त होताहुआ भी एकही प्रकार का दीखता है घटस्थ विंबमें और चन्द्र-

विंव में कुछ अंतर नहीं उसी प्रकार समस्त जीव एकही प्रकार के दृष्टिगत होते सो है नहीं किंतु एकदूसरे प्रतिकूल कर्मकरते दृष्टिगत होतेहैं इस हेतु यही सिद्धिहोता है कि जीव एक नहीं किंतु अनेक जीव है।

और बौद्ध मतानुयायी जगतको क्षणक मानताहै वह कहता है समस्त जगत क्षणमें उत्पन्न होताहै अर्थात् जो प्रथम समय है वह द्वितीय समयमें नहीं रहता इस कारण जगतका होना न होना समानही है तिस क्षणकवादी बौद्ध प्रति कहते हैं।

मूल प्राकृत

जगुणस्थि अणुट्ठइ तवचरणपन्त वड़ियपलरसरसिउ।
विणाणिखंधु पुरुसिभिभणइ वुद्धभंडारउ साहसिउ॥

संस्कृतछाया

जगत्नास्तिअनुतिष्टतिकरोतितपश्चरणंपात्रपतितपलरसरसिकः
निज्ञानस्कंधः पुरुषआत्मापिभणितः बुद्धभट्टारकः शाहसिकम्

मूलार्थ

बौद्धके कथनानुसारयदि जगत नहीं है तो वह पात्रसे पतित मांस रसका रसिक बौद्ध तपश्चरण करता क्यों तिष्टता है और जो आत्माको विज्ञानस्कंध मानता है सो वह बुद्धभट्टारक हठग्राही है।

संस्कृत टीकार्थ

यदितीनोंलोक भ्रांतिरूप क्षणकही होता तो एकदूसरे की कृतिका ज्ञाता किसप्रकार होता।

यदि चैतन्य आत्मा क्षणध्वंसी होता तो छः मासकी वेदनाका ज्ञाता किस प्रकार होता।

बौद्ध पुनः कहै कि जो छः मासकी वेदनाको जानताहै सो पूर्व वासनाके अनुसार जानता है।

तिस प्रति कहते हैं कि जब समस्त जगत् क्षणिक है तो क्या वासनामें क्षणिकत्व न होगा इस के सिवाय विज्ञान वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप एवं पंच स्कंधों से भिन्नहै।

इत्यादि हेतुओं से सिद्धि हुआ कि आत्मा सर्वथा क्षणिक नहीं है किंतु कथंचित् क्षणिक और कथंचित् ध्रुव है।

इस प्रकार श्री मुनि पुंगवके बचन सुनकर कोटपाल निज मस्तक प्रति हस्तकमल धारण कर श्री मुनिकी स्तुति करता संता मुनि कथित वाक्योंको प्रमाण भूत ज्ञात करता स्वीकार करता भया।

तदनंतर कोटपाल कहने लगा।

कोटपाल—हे मदन भंजक हे भट्टारक, हे जगतारक! आप मुनि मार्गका प्रति पादन कीजिये मैं यथाशक्ति उस का प्रतिपालन करूंगा।

मुनिराज—कोटरक्षक! तूं श्री सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशक श्री जिनराज कथित धर्म का सेवनकर क्योंकि इसी धर्म से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है धर्म से मनुष्य होय तो नारायण, बलभद्र, विद्या धरेश, चक्रवर्त्ति होता है इस धर्म से धरणेंद्र, इंद्र और अहिमेंद्र पद प्राप्त होता है।

प्रियवर! इसी धर्म के धारण करने से जिन के चरण कमलोंके दास इंद्रादिक देव जिनका जन्माभिषेक क्षीर सागर के जल से करते हैं ऐसा जिनेंद्र पद प्राप्त होता है इसी धर्म के फल से मनुष्य पर्याय धारणकर उत्तम धनवान् गृहस्थ होता है वहां चंद्रबदनी, कर कमली, हंस गमनी,

कमल दल नेत्रा, सुगंधमय स्वासो स्वास सहित मनोहरा-
लापा अनेक कौतुकोंत्पादिका पीनोन्नतकुचा और उत्तम
वस्त्राभूषणों कर विभूषिता इत्यादि रूपकर देवांगना तुल्य
स्त्री रत्नकी प्राप्ति होकर सांसारिक सुखोंका अनुभव प्राप्त करता है

मूल प्राकृत

धम्में रयणंसुजालधरइ जालिगवख मणोहरइ ।
सुविचित्त भासुरइ सत्तपंच भउमय घरइ ॥

संस्कृत छाया

धर्मेण रत्नांसुजालधराणि जालोपलक्षित गवाक्षैः मनोहराणि
सुविचित्र भित्तिभासुराणि सप्तपंच भौमानि ग्रहाणि ॥

मूलार्थ

रत्नों की किरणोंके समूह से व्याप्त जालीकर उपल-
क्षित गवाक्षोंकर मनोहर सुविचित्र भीतियों कर शोभमान
और पांच सात खन के महल इस धर्म से प्राप्त होते हैं ।

सं० टीकार्थ ।

भव्यवर ! इस धर्म के फल से मदोन्मत्त गजराज, प-
वन, तुल्य वेग के युक्त घोटक, रथ, पालिकी आदि अनेक
आसन, ध्वजा, उज्वलछत्र, चमर, सिंहासन आदि राज्य
चिन्ह महाबलधारी अनेक सुभट और महासेनाका स्वामी
होकर आनंद पूर्वक काल व्यतीत करता है ॥

प्रियवर ! इस संसार में धर्म समान मित्र अन्य नहीं
किंतु इस से विपरीत पाप समान दुःख दायक शत्रु दू-
सरा नहीं है ।

जो परजीव की हिंसा करता है अर्थात् अन्य जीव के
प्राणों को पीड़ित करता है वह पापी गिना जाता है उसी

पाप के फल से यह जीव संसार चतुर्गति में भ्रमण करता अनेक कुयोनियों में असंख दुःखोंका पात्र बनता है।

कोट रक्षक ! जो हिंसक है वह संसार बन में भटकता किसी पुन्य योग से मनुष्य पर्याय धारण करै तो दुःखी दरिद्री,दीन,मलिनगात्र,दुर्वल, रूक्ष हस्तपादादि, दुर्गंधियुक्त वक्र बदन, महा घृणित, लोकों की उच्छिष्ट से जीविका करनेवाला और मलिन और फटे वस्त्रों से, आयुपर्यंत दुःख भोगता काल व्यतीत करता है।

जिस महा हिंसादि पाप कर्म से, यदि मनुष्य पर्यायमें स्त्री पावे तो मलिन गात्रा जार पुरुषोंसे रमण करनेवाली पर पुरुषाशक्ता, व्यभिचारिणी, पर धन हरण करने में प्रवीण पीत नेत्रा, रुक्षा केशा, शुष्क कपोला, भग्नस्तनी, मोटे और धूसरे फटे होष्ट, दुर्भागणी, दुष्टिणी, कुलमार्ग से भ्रष्ट, कठोर, धीठ, निर्लज्ज, पाप कर्म में लीन, स्नेह रहित, दुर्गंध शरीर, प्रलयकाल सदृश कलहिनी, शोभा रहित, दलिद्र पीड़ित, कठोर कर्कश भाषिणी होइ ॥

पापकर्मसे यदि गृहस्थभी होइतो उपरोक्त गुण विशिष्टा स्त्री महामूर्ख अनेक पुत्र तिसपरभी आप दलिद्री यदि कदाचित् किसीकी मंजूरी से जोकुछ द्रव्यलावे उससे अनाजकी योग्यता न होनेपर खलके खंड और तुषके पिंडोंसे समस्त कुटुम्ब भूखको शांति करैं इधर उधर बालक रोते हैं तिनकीनाक बहती है कहीं घरमें फूटे पात्र पड़ेहुए हैं कहींदुसरों से मांग कर लाए मलिन और फटे वस्त्र लटकरहे हैं जिनका कोई सहायक परिवार नहीं जिनका घरभी कैसाउत्तम कि तृणोंसे आच्छादित होनेपर भी सहस्रों छिद्र बहुत कहांतक कहाजावे

संस्कृत छाया।

इस संसारमें यावत् मात्र दुःख हैं वह समस्त पापरूप वृक्ष के फलहैं और वह पापभी परपीड़ा सेही है।

मूलप्राकृत

इयजाणेविकरतुहं धम्मुतिहं जिहजीव वहणसंभवई।
तंणिसुणेविमुणिवरिंदवयण विहसिवितलवरुपडिलवई॥

संस्कृतछाया

इतिज्ञात्वा कुरुत्वंधर्मम् तथायथा जीववधः न संभवति।
तत्श्रुत्वा मुनिवरेंद्रवचनं प्रहस्यतलवरः प्रतिजल्पति॥

मूलार्थ

कोटपाल! इसप्रकार जानकर जैसे होइ तैसे जिसमें जीवका वध न संभवहो ऐसे धर्मको करो ऐसा श्रीमुनिराज का वचन सुनकर हास्यपूर्वक कोटपाल श्रीमुनिप्रति कहनेलगा।

संस्कृतटीकार्थ

कोटपाल - श्रीमुने! देव गुरु, श्रुत नामका ब्राह्मण इस प्रकार कथन करता है कि जो पुरुष पशुओंका घातकर मांस भक्षण करता है वह निश्चय स्वर्गप्रति असंख्यकाल पर्यंत सुख भोग करता है इसप्रकार कोटपालका कहाहुआ श्रवण कर पुनः श्रीमुनिने कहा।

मुनि—महाशयवर! जो निश्चित शुद्धज्ञानहै वह इंद्रिय वर्जित अतींद्रिय है तथा वही ज्ञान जीवका निज स्वभाव मय है किंतु पराधीन नहीं वह साधन क्रमप्रति स्खलित रहित है सो अतींद्रिय ज्ञानके धारक श्रीकेवली भगवान्ने जो प्रतिपादन किया है वह सर्वथा सत्य है अन्यथापनका लेश भी नहीं क्योंकि वस्तु स्वभावके यथार्थ कथनमें प्रदत्त जो

सर्वज्ञ होनाचाहिये और सर्वज्ञभी हुआ यदि रागद्वेष कर मलिनहुआ तोभी वह यथावत् नहीं कहसक्ता इस कारण जो सर्वज्ञ और वीतरागही हितोपदेशक गुण सहित है वही आप्त है उसीका कहा हुआ बचन प्रमाण भूत है।

मित्रवर! आप्तभगवानने चैतन्यगुण विशिष्ट अमूर्त्तीक जीवका जैसा स्वरूप प्रतिपादन किया है उसे इंद्रियजनित ज्ञानका धारक स्वप्नमें भी नहीं जानसकता क्योंकि जो इंद्रीय जनित ज्ञान है वह मूर्त्तिक है वह मूर्त्तिक ज्ञान अमूर्त्तिक वस्तु का ज्ञाता किसप्रकार होसक्ता है।

कोटरक्षक! तुम्हारा जो देव है वह इंद्रियजनित ज्ञान का धारक है सो वह इंद्रियजनित ज्ञान से वस्तु स्वभाव को जन्मांतर में देख जान नहीं सकता।

जैसे मदोन्मत्त मूर्छावान और शयनस्थ पुरुषके मुखमें स्वान मूत्रक्षेपण करजाताहै और उसे नहीं जानसकते इसी प्रकार अतींद्रिय ज्ञानवर्जित छद्मस्थ ज्ञाता त्रैकालिक वस्तु को कदापि नहीं जानसकता।

व्यासजीने यद्यपि समस्त भारत नामक ग्रन्थका प्रकाशनकिया परंतु अतींद्रिय ज्ञानवर्जित होने से युत्किंत् कथन किया है वह मिथ्या है क्योंकि छद्मस्थ के वस्तुका यथावत् ज्ञान नहीं होता इस कारण लोक के अग्रभाग में पृथ्वीतल का स्थापन तथा सूर्य चंद्रादि ग्रहोंकी गतिमें गणितपर भाषण त्रिलोक गत कालत्रयकी कथा और गगणांगणमें सूर्य चंद्रमाके ग्रहण आदिका निरूपण नहींहोसकता इसके सिवाय

मूलप्राकृत

सव्वणु अणिंदिउ णाणमउ जोमइमूढण पत्तियइं।
सोणिंदिय पंचेंद्रिय णिरउ वइतरणिहिं पाणिउ पियइं॥

संस्कृतछाया ।

सर्वज्ञं अतींद्रियं अनिंदितं ज्ञानमयं यः मतिमूढः नप्रत्ययति ।
सःनिंदितः पंचेंद्रियनिरतः वैतरण्यः पानीयं पिवति ॥

मूलार्थ

जो मूढबुद्धी सर्वज्ञको अतींद्रिय और अनिंदित ज्ञानमय प्रतीत नहीं करता वह निंदित पंचेंद्रियमें रत होताहुआ नरकोंमें वैतरणीके जलको पान करता है ।

संस्कृत टीकार्थ

भ्रातृवर ! वेदपाठी जन वेदकी उत्पत्ति इसप्रकार कहतेहैं कि अशरीरी परमात्मा की इच्छानुसार चारोवेद स्वमेव उत्पन्न हुए हैं ।

इस प्रकार कहने वालोंको किंचित् भी लज्जा प्राप्त नहीं होती क्योंकि जबकि वेदस्वयं सिद्धि हैं तो आकाशमें शब्दों की पंक्ति एकत्रित होकर आपही पुस्तक में किस प्रकार लिखगई यह कथन सर्वथा विरुद्ध ही नहीं किन्तु असंभव ज्ञात होता है ।

मित्रवर ! दो पुद्गलके संघटनसे उत्पन्न हुआ शब्द आकाशमें गमन कर लोकोंके कर्णाश्रित है वह शब्द दो प्रकार है अर्थात् एक अक्षरात्मक और दूसरा अनक्षरात्मक है तिनमें पशु और वंशादि द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द अनक्षरात्मक है और अष्टस्थानोंके संबन्धसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका शब्द अक्षरात्मक बुद्धिवानों ने भाषारूप परिगणित किया है ।

कोटरक्षक ! जे मूढबुद्धी वेदको स्वयं सिद्धि कहते हैं वेही देवको शरीर रहित तथा पांडवोंको देवपुत्र कहते हैं

अर्थात् यमका पुत्र युधिष्ठिर, इंद्रका पुत्र अर्जुन पवन का पुत्र भीम, अश्वनीकुमार का पुत्र नकुल और सहदेव को वरुणका पुत्र प्रतिपादन करते हैं।

जो नित्य निरंश और अखंड है उसमें अंश कल्पना किस प्रकार हो सकती है जे पुरुष जबकि उपरोक्त कथन करते लज्जास्पद न होते अकीर्तिसे भयभीत नहीं होते वेही कंशनामक शत्रुकी हिंसासे वासुदेवको स्वर्ग सुखको भोक्ता बतलाते हैं इस से यह ज्ञात होताहै कि वेद भिन्न हैं, पुराण अन्य हैं, देव अन्य, पूज्य अन्य, और इस कथन का करनेवाला अन्य है।

मित्रवर ! इस प्रकार कुमारिल्ल भट्टके कथनसे पूर्णता होउ क्योंकि उपरोक्त समस्त कथन असत्य होने से धर्मके विपरीत किंतु अधर्मका पोषक सर्वथा असंभव है।

मूल प्राकृत

गेएं वेएं मई जाणियउं हरिणाहुं मरण पयासिउ।
एक्कें णिच्छिक्किउ सवरउलु अवरेंदियउ लोपोसियउ॥

संस्कृत छाया

गीते न कथितेन वेदेन मया ज्ञातं
हरिणानां मरणं प्रकाशितं।
एकेन निश्चयेन किंक्रियं सबर कुलं
पोषितं अन्येन द्विजकुलंपोषितम्॥

मूलार्थ।

वेद द्वारा किया हुआ कथन मैंने जाना उसमें हिरणों का मरण प्रकाशित किया एक वेदने निश्चय कर भील कुलका पोषण किया और दूसरेने द्विजकुल (ब्राह्मणों) का पालन किया।

संस्कृत टीकार्थ

यदि मीन भक्षी और स्नान से पवित्र होते ब्राह्मण और बगुलाही पूज्य पदको प्राप्त होजाइंगे तो षटकायके प्राणियों के रक्षक संयमके प्रतिपालक और समभाव युक्त मुनियों की क्या दशा होगी अर्थात् उनकी पूजा वंदना कौन करैगा ।

कोटरक्षक ! तुमही निज हृदयमें विचारकर देखो कि सरिता तट प्रति निवास कर माछियोंके समूहको भक्षण करता बगुला किस प्रकार पवित्र हो सकता है इसी प्रकार जे ब्राह्मण जिह्वालंपट मांस भक्षी हैं वे पूज्य किस प्रकार हो सकते हैं ।

पाप कर्मके उदयसे मेढ़ी, बकरी, हरिणी, और गाय आदि पशु जाति समस्त तृण भोजी हैं किंतु वे किसीके जीव के घातमें प्रवृत्तिमान नहीं होते उन दीन पशुओंका घात कर आपको उच्चकुली और पवित्र मानकर भोले जीवों से अपनी पूजा करावें और कहैं कि हमको परमेश्वर ने इस विप्रकुल में इसी लिये उत्पन्न किया है कि हम चाहे जैसा नीच कर्म करें तो भी पूज्यही हैं और जो हमारी निंदा करता है वह जब तक सूर्य चंद्रमाका उदय है तब तक वह नर्क वास करता है तथा जो हमारे वचनों में दूषण लगाता है वह वैतरणी के जल का पान करता है इससे हमारा कहा हुआ जो वाक्य है वह जनार्दन भगवान् तुल्य है ।

कोटरक्षक ! अब आपही कहिये कि इन विप्रोंका कहा हुआ वाक्य कहां तक सत्यमाना जाय क्योंकि प्रथम तो

आप कहते हैं कि गौ देवता है और उसकी पूंछ में तेंतीस कोटि देवता वास करते हैं इस कारण गौ का भिष्टा और मूत्र दोनों ही पवित्र हैं फिर आपही उपदेश करते हैं कि गो मेध्य यज्ञ में गौ के हवन करने से मनुष्य स्वर्गलोक प्राति जाता है।

इस के सिवाय और भी कहते हैं कि जो पुरुप सौदामिनी यज्ञमें मदिरा का पान करता है वह संसार से पार हो जाता है इत्यादि कहां तक कहा जावे विप्रोंका कथन सर्वथा असत्य और विरुद्धता युक्त है।

भव्यवर ! अब तुम वेदमार्गको त्यागकर श्री ऋषभ देव आदि तीर्थनाथ कर प्रकाशित धर्म को अंगीकारकरो।

श्री ऋषभदेव स्वामी ने दयामय धर्मका प्ररुपण कर पुन वही दयामयी धर्म मुनि और ग्रहस्थ के भेद से दो प्रकार प्रतिपादन किया उन में पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति एवं त्रयोदश प्रकार चारित्र युक्त मुनि धर्म महा दुर्द्धरहै और पंच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एवं द्वादशव्रत रूपश्रावकधर्म है उसीका पालन तुम करो।

क्योंकि इस श्रावक धर्म में एकोदेश हिंसाका त्याग है सो तुम हिंसा झूठ, चौर्य कर्म, कुशील सेवन और परिग्रह की तृष्णा एवं पंचपापोंका एकोदेश त्यागकर अहिंसा [दया] सत्य, अचौर्य व्रत, स्वदार संतोष और परिग्रह का प्रमाण एवं पंच अणुव्रतोंका धारण करो।

पुरुषोत्तम ! उपरोक्त व्रतोंके सिवाय रात्रि भोजनका त्याग, मधु, मांस, मदिरा तीन मकार तथा ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़ और पाकर फल एवं पंच उदंबर फलों का

वर्जन करना, दशों दिशाओंका प्रमाण और भोगोपभोग की संख्या कर के आठ मदोंका त्याग कर देना चाहिये।

इस के सिवाय अन्य कुशास्त्रोंके श्रवण का वर्जन, वर्षा काल में गमनका निषेध, जीव घातक आजीविका का त्याग कर के अपने शस्त्र किसी को नहीं देना चाहिये।

मूलप्राकृत

अट्ठमिदिण अवरु चउद्दिसिहि छिवइ पुरंधिण थण दुहड्डि।
उववासु इक्कट्ठाण, विकराहि एयभत्तु जिमणिव्विपड्डि॥

संस्कृत छाया

अष्टमीदिने अपरंचतुर्दश्यां स्पर्शते परंध्रूः नस्तन दुर्घटाः।
उपवासः एकस्थानं अपि कुरुएकभक्तं जिमं निर्विकृतिः॥

मूलार्थ

अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस स्त्री के दुर्घट स्तनोंका स्पर्श न करना किंतु उपवास पूर्वक एकांत स्थान में वास करना अथवा एक भुक्त और नीरस आहार करना चाहिये

संस्कृत टीकार्थ

हे कोटरक्षक! प्रत्येक पर्व के दिवस में उपवास अथवा कंजिकाहार करना तथा धर्म ध्यान पूर्वक श्री जिन मंदिर में तिष्ट कर पापका अंत करना इसके सिवाय पात्र दान देना अर्थात् सम, दम, वृत नियम आदिका पालने वाला संयमी मुनि, उत्तम पात्र, सम्यक् दृष्टी श्रावक, मध्यम पात्र और अव्रत सम्यग्दृष्टी, जघन्य पात्र, एवं तीन प्रकार पात्रके अर्थ औषध, शास्त्र, अभय और आहार एवं चार प्रकार दान सत्कार पूर्वक देना इस प्रकार दान करने से पुण्य की संतान उत्तरोत्तर वृद्धिगत होगी तदनंतर पंच

कल्याणक प्रतिष्ठादि कार्योंमें द्रव्यका व्यय करना और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयका निरंतर आराधन करना, त्रिकाल सामायिक करना उस समय जिन वंदना के पश्चात् राग द्वेषका वर्जन कर साम्य भावका अवलंबन करना, उपरोक्त सामायिक कर्म, निज गृह के एकांत स्थान में अथवा जिन मंदिर में एकांत स्थान प्रति या जिन प्रतिमा के अग्रभाग में कायोत्सर्ग तिष्ठ कर करना योग्य है कुगुरु कुदेव और कुधर्म से परान्मुख होकर अंत समय संलेषणा मरण करना।

मूल प्राकृत

तंणिसुणवि पभणइ पवरभडु अम्हहंकुल मारणुपढमु।
तंवज्जवि सयलु परिग्गहउ धम्म हो केरउ कहिउ कमु॥

संस्कृतछाया।

तच्छ्रुत्वा प्रभणति प्रवरभटः अस्माकं कुले मारणं प्रथमं।
तत् वर्जयित्वा सकलं परिग्रहीते धर्मे संवंधकं कथितं क्रमम्

मूलार्थ

मुनिराज कथित वचन श्रवणकर श्रेष्ठभट (कोटपाल) कहनेलगा कि हे मुनिश्रेष्ठ! हमारेकुलमें जीवोंका मारना प्रथम है सो इस जीव विना अन्यजो धर्म संवंधी क्रम वर्णन किया वह मैंने ग्रहणकिया इसप्रकार कहकर कोटपाल और भी कहनेलगा।

संस्कृत टीकार्थ

कोटपाल! हे मुनि पुंगव में नगरका श्रेष्ठकोटपाल हूं सो जीवों का बध करना, मारना, और कारागृह में बन्द करना यह मेरा प्रथमही कर्त्तव्य कर्म है इस कारण इस व्रत का व्रती मैं नहीं हो सकता।

हे आचार्यवर्य ! हमारे पितामह, प्रपितामह और पिता के समय से जीव वध के क्रमका संचार हो रहा है सो क्रमसे मैं भी बद्ध हूं इस कारण इस व्रत को ग्रहण नहीं कर सकता किंतु अन्य समस्त धर्म का ग्रहण किया।

इस प्रकार कोटपालका कहा वाक्य सुन श्री मुनिने कहा

श्री मुनि—हे कोटपाल ! बहुत कहने कर क्या ? यह देख तेरे निकट जो कुर्कुट युगल तिष्टा हुआ है इसने जिस प्रकार संसार भ्रमणकर महान् कष्टोंका सहन किया है उसी प्रकार तूं भी करेगा।

कोटपाल—भो दिगंबरेश ! इस कुर्कुट युगल के भव भ्रमण की कहानी आप वर्णन करें जिसके श्रवण में मुझे संबोधन हो।

इस प्रकार कोटपाल की प्रार्थना करने पर श्री मुनि कुर्कुट युगलके संसार भ्रमणका कथन करने लगे।

मूल प्राकृत

अच्चांत कुसंगं जाए एग जायउ भाउ सकक्खडउ।
मारवि कुल देविहिं दिण्णिवलि रायहि कित्तिम कुक्कडउ॥

संस्कृत छाया॥

अत्यंत कुसंगेन जातेन जातः भावः सकर्कशः।
मारयित्वा कुल देव्यैदत्तः वलिएताभ्यां कृत्तिम कुर्कुटः॥

मूलार्थ

महाराज यशोधर और उनकी माता चंद्रमती ने अत्यंत कुसंगतिके योगसे कर्कश भाव उत्पन्न किये जिस से कृत्रिम कुर्कुट मारकर कुल देवीके अर्थ वलिदान किया।

संस्कृत टीकार्थ

हे कोटपाल ! मिथ्यात्वके योगसे वे दोनों ही निज धन और शरीरका विनाश कर महाभयभीत होते सुधातुर मयूर

और स्वान हुए पुनः मरकर मत्स और सिंसुमार (सूंस) हुए वहां से प्राण त्याग बकरा बकरी हुए तदनंतर बकरा और महिष हुए वहां प्राण त्याग नवीन पुच्छ के सेहरा सहित कुर्कुट युगल हुआ तेरे निकट तिष्ठा हुआ है।

इस प्रकार श्री मुनिद्वारा कुर्कुट युगल के भव भ्रमणका संक्षेप सुनकर कोटपाल ने समस्त कुल धर्मका त्यागकर श्रावक व्रत का ग्रहण किया पश्चात् मन, बचन, कायसे श्री मुनिको भाव सहित नमस्कार किया।

श्री क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से कहने लगे कि राजन्! जिस समय श्री मुनि ने हम दोनों कुर्कुटोंके भव भ्रमण की कहानी वर्णन की उसे श्रवणकर हर्ष पूर्वक जीव दयाका प्रतिपालन कर अपूर्व लाभके योगसे अत्यंत संतोष को प्राप्त हुए पश्चात् उत्कंठा पूर्वक जैसेही मधुर शब्दका उच्चारण किया तत्काल उसे श्रवण कर मैथुन कर्म में उपस्थित मेरे पुत्र यशोमति ने धनुष में बाण लगाकर निज पत्नी कुशुमावली से कहा कि प्रिये! इस समय तुझे शब्दवेधी धनुर्वेद दिखाता हूं?

मूल प्राकृत

इयभासिवि राए मुकसर वम्मइतेणवि लुकई।
अम्हाइं बिणि पिंजर ट्ठियइं दहविहपाणिं मुक्काई॥

संस्कृत छाया

इतिभाषयित्वा राज्ञामुक्तः शरः वर्मणि शरीरे तेनाछिन्नौ।
आवांद्वौ अपि पिंजरस्थितौ दश विध प्राणैः मुक्तौ॥

मूलार्थ

इस प्रकार कह राजा ने वाण छोड़ दिया जिस से पिंजरे

में स्थित हम दोनों कुर्कुटों का शरीर छिन्न होने से हम दोनों ही दश प्रकार प्राणों से मुक्त होते भये।

संस्कृत टीकार्थ।

राजन्! हम दोनों ही मुर्गे उस तीक्ष्ण बाणद्वारा मग्ना प्राप्त होकर जन्मांतर के पुत्र-यशोमति की कुसुमावली के रुधिर और लटों कर व्याप्त गर्भाशय में उत्पन्न हुए।

नृपवर! पापों की परंपरा से मैं निज पुत्रका पुत्र और मेरी माता चंद्रमती निज पोता की पुत्री हुई इस प्रकार नव मास व्यतीत हुए पश्चात् मेरा जीव तो अभय रुचि कुमार नामका पुत्र और मेरी माताका जीव अभय मति नामकी पुत्री हुई।

पृथ्वीनाथ! अब हम दोनों भाई बहिन कामकी शक्ति समान रूप लावण्य युक्त होते चंद्रकला सदृश वृद्धिगत होने लगे हम दोनोंही कलागुणाकर प्रवीण निज सौजन्यता और विनयगुणसे समस्त कुटुंबी जनों का मन हर्षित करते आनन्द पूर्वक काल व्यतीत करने लगे कालांतर में हमारे पिता ने युवराजपद का पट्ट हमारे मस्तकपर आरोहणकर आप मृगया (शिकार) अर्थ पांच सौ कुत्तों और अनेक शस्त्रधारी सुभटों को साथ लेकर महावन की ओर गमन किया सो मार्गमें रमणीक उपवन में उग्रोग्र तपकी ताप से क्षीण शरीर और कामदेवके विदारक एक तरु के तल प्रासुक शिलापर सुदत्त नामक भट्टारक देखे उस समय।

मूलभाषा

एहु चिंतइ सिद्ध विणासयत्त असमनवाऊ कहियाइयउ।
खलु खपणउ तइनहो बाहिरउ कहिमहोजाय अघायइउ॥

संस्कृत छाया

एषः राजा चिंताति सिद्ध विनाशकरः अपशकुनः कुतः आगतः।
खलु च्चपकः त्रितयेभ्यः वाह्यः कुत्रममयाति अघातितः ॥

मूलार्थ।

यह राजा यशोमति चिंतवन करने लगा कि सिद्धिका विनाशक अपशकुन साधु कहां से आया ब्रह्मा विस्नु महेश इन तीनोंके वाह्य यह मुझ द्वारा बिना मारे कहां जायगा।

संस्कृतटीकार्थ

ऐसा बिचार कर उस जन्मान्तरके पुत्र और वर्त्तमान के पिता यशोमति ने मुनिके मारनेको बिजलीके पुंज और पवनवेग तुल्य तीक्ष्ण नखों युक्त पांचसौ कुत्ता छोड़े।

वेस्वान स्वानपालकों ने छोड़े ऐसे ज्ञात होतेथे मानों मृगादि जीवोंके मारने के शस्त्रही हैं उन स्वानों की वक्र पुच्छ पापिष्ठोंके चित्त समान जिह्वा हिंसारूप वृक्षके पल्लव तुल्य और नख हिंसारूप तरुके अंकूर सदृश दृष्टिगत होते थे उस पाप पुंजवत् स्वान समूह के छोड़ने में शिकारीजन किंचित् भी दया नहीं करते।

वे हिरणोंके बिदारक भूंखते, उछलते, कुत्ते श्री मुनि राजके तपकी सामर्थसे मुनिके पास जाकर उनके चरणोंको नमस्कार कर बिनयपूर्वक चरणोंके निकट तिष्ठे।

जब कुत्तोंका छोड़ना निरर्थक हुआ तब राजा यशोमति स्वयं खड्ग लेकर श्रीमुनि के मारने को उद्यत हुआ उस समय कल्याण मित्र नामका राजश्रेष्ठी जोकि मुनिराजके निकट तिष्ठा हुआ था राजा यशोमति और श्री मुनिराज के मध्य होकर कहने लगा।

मूलप्राकृत

विरएविण अंजलिवणि वरेणा बोल्लिउराउ जणाहिहरु।
जइ मारहि जइवर वयसहित किं करइ विझिम्मि सवरु॥

संस्कृतछाया

विरचित्वा अंजलिं वनिकवरेण
भणितः राजा जनातिहरः।
यदि मारयति यतिवरं व्रत सहित
तर्हि किं करोति वंध्यपर्वते भिल्लः॥

भावार्थ

हाथ जोड़कर सेठने राजा से कहा कि राजा मनुष्यों की पीड़ा का हरने वाला होता है सो यदि राजाही व्रत युक्त यतिवरको मारेगा तो विंध्याचल पर्वत पर वास करने वाले भीलों कीक्या दशा होगी अर्थात् विंध्याचल पर्वत के निवाशी भिल्लजन मुनि हत्या में प्रवर्तते हैं किंतु राजा तो मुनिजनों की रक्षाही करता है और यदि राजाही मुनि हत्या करैगा तो भिल्लजन क्या करेंगे इस कारण हे प्रजा पालक! मुनिराज की हत्यासे निवृत्ति होकर पवन, वरुण, वैश्रवन कर स्तुति करने योग्य और विषयों से विरक्त श्री मुनिराजको नमस्कार करनाही योग्य है।

ऐसा सुन क्रोध युक्त होकर राजा यशोमति ने कहा।

यशोमति—कल्याणमित्र! जोकि नग्नहै, स्नान रहित है, वह अमंगल और कार्यका विनाशकहै, उसे बिना मारे कैसे छोडूं किन्तु मुझे यमराज की आज्ञाका पालन करना ही अभीष्ट है और तुम कहते हो कि नमस्कार करो सो मैं प्रणाम कैसे करूं क्योंकि जो हनने योग्य है उसका

विनय करना वेद मार्गियों द्वारा नीति विरुद्ध है इस कारण इसे अवश्य मारूंगा।

कल्याणमित्र—(हुल्हासहृदय होकर) श्रीमान् यदि नग्नही अमंगल है तो नग्न और धूलिसे धूसरित शरीर महादेव तथा कतरनी हाथ में लिये नग्न मूर्त्ति क्षेत्रपाल भी हैं इसके सिवाय अरुण चरणोंमें घूंघुरा धारणकरें लोह का कड़ा हाथमें पहिने गर्दभ पर सवार मुंडोंकी माला धारण करें अस्थियोंके आभूषण पहिने मनुष्योंके मांसकी भक्षण करनेवाली हाथमें कपाल और श्मशानमें वास करने वाली नग्नशरीर योगिनी किस प्रकार मंगल स्वरूप हो सकती है क्योंकि जो जीव दयाका बाधक और हिंसा का स्थान हो वह मंगल नहीं होता।

नृपवर! जो जीव दयाका प्रतिपालक संयमका धारक साधु भट्टारक नग्न दिगम्बर है वह अमंगल नहीं किंतु सच्चामंगल वही है क्योंकि जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप आभूषणों के धारक और नग्न भावनायुक्त है उनको दूषण लगाना पापका उपार्जन करना है।

पृथ्वीपति! आपने स्नानरहित मुनिकी निंदारूप वचन कहा सो यज्ञ कर्ममें स्नान कहां जैसे क्षार द्रव्य से वस्त्र मलरहित होजाता है उस प्रकार मलभृत घट सदृश यह शरीर स्नान करनेसे शुद्ध नहीं होता क्योंकि स्नानकरनेसे सुगंधादि लेपन और पुष्पमालादि धारण करनेसे देहपवित्र और निर्मल नहीं होता किंतु शरीरके संयोगसे सुगंधादि विलेपन अपवित्र होजाता है।

यह शरीर क्रोध, मान, माया, लोभ, और मोह आदि

से पूर्ण है सो यद्यपि सप्तधातु उपधातुमय अपवित्र है तथापि सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपसे पवित्र होजाता है ।

मूल प्राकृत

सव्वंगुपवित्त महारिसिहिं पछिवदुद्धरतव धरहं ।
ललारसु लग्गइतणु मलविहरइ रोउ रोयाउरहं ॥

संस्कृत छाया

सर्वांगंपवित्रं महारिषाणां हेपार्थिवः दुर्द्धरतपाधराणां ।
ललारसः तनुमलः अपिहरति रोगं रोगातुराणाम् ॥

भूलार्थ

हेराजन् ! दुर्द्धर तपके धारक रिषीश्वरोंका सर्वांग पवित्र है क्योंकि उनकी लारका रस और शरीरका मलभी रोगातुरोंके रोगको नाश करता है ।

सं० टीकार्थ ।

नृपश्रेष्ठ ! जिन रिषीश्वरोंके चरणोंकी रजही पापरूप पंकका नाश करती है इस कारण उन रिषीश्वरोंको ईर्षारहित प्रणामकरनाही सर्वथा योग्य है क्योंकि जिन मुनीश्वरोंकी आमर्षौषधि श्रेष्ठखिल्लौषधि विडौषधि अक्षीणमान सद्धि और सर्वौषधर्द्धि के प्रभाव से श्रीमुनिके अंगको सर्प नहीं डसते तथा सिंह शार्दूल भिल्ल पुलिंद आदि दुष्टजीव भी विनयपूर्वक प्रणाम करते हैं ।

वे मुनिपुंगव यदि रोषयुक्त होवें तो इंद्रकाभी स्वर्गसे पतन करैं और मेरु सहित तीनलोक को उलटदेइं तीनलोक में ऐसा कौनसा कौनसा बलवान तेजस्वी जीवहै जो रिद्धि युक्त श्रीमुनिके सन्मुख तिष्ठसके ।

प्रजारक्षक ! वे महाशक्तिके धारक श्रीमुनि प्रणाम करनेवाले सज्जन से प्रसन्न नहीं होते और जो निंदा करताहै

उसप्रति रोष नहीं करते किंतु शत्रु मित्र दोनों से समभाव रखते हैं वे महामुनि शत्रु, मित्र, तृण, कांचन, गृह, स्मशान और धूलि तथा रत्नमें समभाव हैं बड़े खेदकी बात हैं कि ऐसे शांतिचित्त तपोनिधि महामुनिके ऊपर खड्ग उठाना कहांतक योग्य है ।

वेमहामुनिवर समस्त परिग्रह रहित समस्त जीवों के उपकारी हैं जिनका प्रभाव श्रावकों के सिवाय देवेंद्रोंपरभी पड़ता है नृपेश आपभी प्रत्यक्ष देखरहेहैं महाक्रूर स्वभावी हिंसक पांचसौ श्वान आपने श्रीमुनि के मारणार्थ छोड़े परंतु श्रीमुनिराज के प्रभावसे शांतिचित्त होकर विनयवान शिष्यकी भांति मुनिराजके पाद मूलमें पूंछ हलातेहुए तिष्टेहैं

राजन्! अज्ञान अवस्था और क्रोध से विमुक्त होकर श्रीसाधुके चरणोंकी बंदना करो इत्यादि कहकर कल्याण मित्र सेठने औरभी श्रीमुनिका परिचयदिया ।

मूल प्राकृत ।

णामेण सुदत्तु गुणोह निहिं होतउ राउ कलिंगवउ ।
कुसमालधरहो बंधहो वहहो णिव्विणउहुउ परमजइ ॥

संस्कृतछाया

नाम्नासुदत्तः गुणौघनिधिः अभविष्यत् राजाकलिंगपतिः ।
कुसुमालचोरस्य बंधातबधात् निर्विन्नजातः परमयतिः ॥

मूलार्थ

गुणोंके समूहकी निधि कलिंग देशका राजा नामकर सुदत्त कुसुमाल चौर के बंधन और बध से उदास होकर परम यति हुए हैं ।

संस्कृतटीकार्थ

जिस समय कुसुमल चौरको बंधन में डालकर कोटपाल

ने राजा सुदत्तके सन्मुख उपस्थित किया उस समय राज कर्मचारी गण श्रेष्ट ब्राह्मणोंने नृपतिसे विज्ञप्तिकी कि स्वामिन्! इस अपराधी चोरको हस्तपाद और मस्तक छेदने का दंड दियाजाय ऐसा सुन राजाको संसार देह भोग से वैराग्य उत्पन्नहुआ।

ये सुदत्ताचार्य महाराज जीवित और धनकी आशारूप पाशीको छेद तथा जीर्ण तृणवत् राज्यको छोड़ परम दिगंबर होकर गिरि और वनके वासी हुए हैं ऐसा कहकर कल्याण मित्रसेठने कहा कि अहोराजन्! यशोमते अपराध मुक्त होकर हाथ जोड़ श्रीमुनि महाराज के चरण कमलों को प्रणाम करो।

इसप्रकार कल्याणमित्र के कल्याणरूप अमृत तुल्य वचन श्रवणकर समस्त जीवोंमें मैत्री भाव धारणकर श्रीमुनिराजकी महाभक्ति पूर्वक महाराज यशोमतिने हाथजोड़ नमस्कार किया तब श्रीआचार्यवर्यने धर्मवृद्धि हो। ऐसा वात्सल्यपूर्वक अमृत तुल्य वचन कहा।

उसे श्रवणकर यशोमति नृप निज हृदयमें चिंतवन करने लगे कि ये मुनि महाराज सुमेरु समान अचल, पृथ्वीसमान क्षमावान्, समुद्र समान गंभीर, दिनकर समान प्रतापी, चंद्रमा समान सौम्य हैं ये श्रीमुनिपुंगव संयम के पुंज तपकी शक्ति माहात्मके सार, जिनवरकी भक्तिके निवास, दयादेवीकी क्रीड़ाके पर्वत, क्षमारूप कमलनीके सरोवर और साधु वृत्तिके भंडार जीवोंकी प्रतिपालना करते तिष्ठते हैं मुझ पापी कृतघ्नी दुरात्माने ऐसे महात्माके मारने का संकल्प किया सो अत्यंत अयोग्य कार्य किया।

मूल प्राकृत

पछित्तुकरमि दुव्विलसयहो सीसु लुणेप्पिणु अप्पणउं ।
णिवचिंतउ मुणेविमुणसरेण जंपउ सवणसुहावणउं ॥

संस्कृतछाया

प्रायश्चित्तंकरोमि दुर्विलसितस्य शीर्षलुंचियित्वा आत्मनः ।
नृपचिंतितंज्ञात्वा मुनीश्वरेण जल्पितं श्रवण सुखावहम् ॥

मूलार्थ

राजा यशोमति विचारनेलगे कि इस दुष्ट चेष्टाका प्राय श्चित अपना मस्तक छेदकर करताहूं इस प्रकार नृपतिके हृदयस्थ आशय को जानकर श्रीमुनिमहाराज ने श्रवणोंको सुखदायक वचन कहा ।

संस्कृतटीकार्थ

श्रीमुनि-नरनाथ ! यह क्या अशोभन चिंतवन करताहै क्या भ्रमरकुल सदृश नीलकेशों सहित मस्तकके छेदनेसेही प्रायश्चित होता है नहीं नहीं किंतु अपनी निंदा और गर्हा से भी तो प्रायश्चित होताहै ऐसा सुन राजाने कहा ।

यशोमति—श्रीमुने ! मेरे हृदयकी गुप्तबार्ता आपने किसप्रकार जानी इसप्रकार राजाके वचन सुनकर निकटस्थ कल्याणमित्र सेठने कहा कि ।

कल्याणमित्र—राजन् ! आपके हृदयकी वार्ताको श्री मुनिने जानलिया सो इसमें क्या आश्चर्य है श्रीकेवली भगवान तो लोकालोक संबंधी त्रिकालवर्त्ती समस्त चराचर वस्तुओंको एकही कालमें जानलेते हैं इसप्रकार सेठके वचन सुनकर राजाने श्रीमुनिसे कहा ।

नृपति—[हाथजोड़कर] श्री रिषिवर्य ! मैं एक वार्ता पूछताहूं उसे आप कृपाकर वर्णन करें ।

श्रीमुनि—नृपवर ! जो तेरी इच्छा होइ यह पूछ मैं जो कुछ जानता हूं उसे कहूंगा ।

यशोमति—[मस्तक नवाकर] श्री मुनिपुंगव ! यह कहिये कि पिता यशोधर महाराज निज माता [मेरी पिता मही] सहित मृत्यु प्राप्त होकर कहां उत्पन्नहुए हैं ।

श्रीमुनि—नरनाथ ! तुम्हारे पितामह महाराज यशोर्धन पलित केश देख जिससमय वैराग्य भूषित होकर तुम्हारे पिता यशोधर को राज्य लक्ष्मी समर्पणकर आप मदन का मद भंजनकरते तपश्चरणके योगसे स्वर्ग, प्राप्तहुए पश्चात् यशोधर महाराज राज्याशन पर तिष्टते न्यायपूर्वक प्रजा-पालन करनेलगे :

राजन ! एकदिवस तुम्हारी कुलदेवीके अर्थ यशोधर और चंद्रमतीने चूर्ण विनिर्मित कुक्कुट का बलिदान किया पश्चात् विषमिश्रित भोजनकर मरण प्राप्त होकर माता पुत्र दोनोंही स्वान और मयूरहुए ।

वे दोनों तुम्हारेही गृहमें वृद्धि प्राप्तहोकर स्वानद्वारा मयूरका मरणहुआ देख तुमने कुत्तेको मारा ।

मूलप्राकृत

पुणु विसहरारि तुह पिउ हुयउ तहो मायरि भीसणु उरउ ।
सोखद्धउ तेण भयंकरेणसइं पुणुमुयाउतर झाउ ।

संस्कृतछाया

पुनःविषधरारि जाहकः तवपिताजातः तन्मातार्भीषणउरगः।
सउरगः खादितः तेनभयंकरेण स्वयंपुनः मृतःतरच्छगाहनः॥

भावार्थ

पश्चात् तेरे पिता यशोधरका जीव मयूरकी पर्याय छोड़ न्योला और तेरी पितामही [आजी] का जीव कूने की

योनिसे भयानक सर्प हुआ तदनंतर दोनों ही परस्पर युद्ध कर प्रथम न्योला ने सर्पको मारा पश्चात् न्योलाभी मरण को प्राप्त होता भया ।

संस्कृत टीकार्थ

नृपवर ! तदनंतर तेरी आजी का जीव सर्प के शरीर को त्याग सिप्रानदी में संश्रुमार (सूसि) हुआ सो तेरी कुब्जिका दासी के मारने के अपराधसे तुमने मरवाया और तुम्हारे पिताका जीव न्योलाका पर्य्यायसे उसी सिप्रा में मत्स हुआ वह संश्रुमार (सूंसि) की खोज करते समय धीवरों ने पकड़ा पश्चात् वेदाभ्यासी भट्ट ब्राह्मणों के अर्थ पक्क कर दिया गया ।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार संश्रुमार और मत्स एवं दोनों मरण को प्राप्त हुए तिनमें तेरी माताका जीव संश्रुमार [सूंसि] की पर्याय से बनमें बकरी हुई और तेरे पिताका जीव मत्सकी पर्याय से उसी बकरीके उदरसे बकरा हुआ ।

राजन् ! संसार की विचित्रता का अवलोकन करो कि वह बकरा अपनी माता बकरी के साथ संभोग कर यूथके स्वामी बकराके श्रृंगसें मरण प्राप्त होकर अपनेही वीर्य से अपनी माताके उदरमें पुनः बकराही हुआ ।

राजेश्वर! एक दिन तू शिकार के अर्थ वनमें गया था वहां कोई मृग तुझे न मिला इस कारण उधरसे लौटकर आ रहाथा सो मार्गमें बकरी और यूथपति बकराका मैथुन देख क्रोधिष्ट होकर तैने भालासे मारा सो बकरीके उदरसे निकला बकरा तूने अजापालकोंके हस्तगत किया सो उन्हों ने उस बकराका पालन पोषण किया ।

वह बकरी मरकर महा भयानक महिष हुआ उस ने तेरी सवारी का घोड़ा मारा इस से तेने जीवित ही दग्ध किया पश्चात् पक्व हो जानेपर उसका मांस समस्त ब्राह्मणों को भक्षणार्थ दिया उस समय तेरी माता अमृतमती (जोकि कुष्टकर व्याकुल थी) उसे महिषका मांस न रुचा इस कारण रसोईदारों ने उसी बकरेके पगका खंडनकर पकाकर तेरी माता को तृप्ति किया पश्चात् बकरा को मारकर पितरों के श्राद्धके अर्थ ब्राह्मणों को दिया।

मूल प्राकृत

सो छेलेउ महिस विसंभराहि अवर पक्खि जहिजइयहु।
पइ खंडवि खंडवि बंभणाहं खाहुतइ तइ पहु॥

संस्कृतछाया।

सः छागः महिषः अपि त्वं स्मरसि अवरपक्षे यदाकाले।
त्वया खंडयित्वा खंडयित्वा ब्राह्मणेभ्यः खादितुं दत्तः तदातत्र॥

मूलार्थ

नृप! तु स्मरणकर कि तेने वह बकरा और महिष खंड खंड कर श्राद्ध पक्षमें ब्राह्मणोंके भक्षणार्थ दियाथा या नहीं।

संस्कृत टीकार्थ

वे दोनों बकरा और महिष मरण प्राप्त होकर कुर्कुटका युगल हुआ सो नंदन वनमें उनका शब्द श्रवणकर बाण से वीधित किये सो मरकर तेरी कुसुमावली रानीके गर्भसे उत्पन्न होकर अभय मतीनाम की कन्या और अभय रुचि कुमार नामका पुत्र हुआ।

राजन्! इस प्रकार तेरे पिता यशोधर और तेरी आजी चंद्रमती एवं दोनोंही मिथ्यात्वके योगसे संसार भ्रमणकर पुन्यके योगसे तेरे पुत्र पुत्री होकर तेरे गृहमें तिष्ट हुए हैं।

तेरी माता अमृतादेवी निशाचरी समान मांस का भक्षण करने वाली गुणसमूह महा ऋषीश्वरों की निंदा करने वाली कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के चरणों की वंदना करने वाली जीवित मत्सों को तप्त घृत में पककर ब्राह्मणों को भक्षण कराकर पश्चात् आप खाकर मदरा पान कर जारके साथ रमण कर निज पति और सासु को विष देकर मारा जिससे महा कष्टसे पीड़ित होकर आर्त्त रौद्र ध्यानके योग से मरण प्राप्त होकर छटवें नरकमें प्राप्त होकर महा दुःखों को सहने वाला नारकी हुआ ।

मूलप्राकृत

दुक्कमे निवदइ णारयविले रिसहे कहियउ जो अवगणइ।
सिरि पुप्फयंत जिनवर वयंणु मूढ़उ लोउणा यरणइ ॥

संस्कृत छाया ।

दुःकर्मणानियतति नरकविले वृषभेनकथितः यः अवगणयति
श्रीपुष्पदंत जिनवर बचनं मूढ़लोकः न आचराति ॥

मूलार्थ

जो मूर्ख पुरुष श्री वृषभ देव कथित धर्मका अवगाहन नहीं करता किंतु दुष्कर्म करता है वह नरक के बिल में पड़ता है और यह तो सत्यही है कि श्री पुष्पदंत जिनवर के बचन को मूर्ख लोक आचरण नहीं करते ।

इति महामान्य नन्हकर्णा भरण पुष्पदंत महाकवि विरचिते श्री यशोधर चरित्रे महाकाव्ये यशोधर चन्द्रमती मनुज जन्म लाभ वर्णनो नामक तृतीय परिच्छेदः समाप्तः ३

——:०:——

वसंत माला छंद

आश्रांत दान परितोषित वंदिवृंदो
दारिद्र रौद्र करि कुंभ विभेद दक्षः ।
श्री पुष्पदंत कवि काव्य रसाभि तृप्तः
श्रीमान् सदा जगति नंदतु नन्ननामः ॥ १ ॥

अर्थ

जो निरंतर दानकर बंदीजनों को संतोषित करता है जो दालिद्ररूप भयानक हस्ती के कुंभस्थल विदारने में प्रवीण है जो श्री पुष्पदंत नामक महाकवी की काव्य के रस से तृप्त हुआ है और जो लक्ष्मीवान् है वह नन्न नामका महा मंत्री जगत् में सतत, जयवंत प्रवर्त्तो ।

श्री अभय रुचि कुमार नामक क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृप से कहने लगे कि राजन्! श्री सुदत्ताचार्य के मुख से मेरे भव सम्बन्धी चरित्रको सुनकर यशोमति महाराज का शोक पूर्ण हृदय कंपमान हुआ तथा हृदयस्थ शोक समस्त शरीर में व्याप्त होकर पश्चात् नयन मार्ग से अश्रुधारा की मिसकर बाहर निकलने लगा ।

नृपवर! उस समय यशोमति महाराजने श्री मुनि के चरण कमलोंमें पड़कर इस प्रकार कहा कि स्वामिन्! जिस ने मेरे पिताका घात कियाहै वह अवश्य निर्दयी और पापीहै

यशोमति महाराज और भी कहने लगे कि हे दयानिधे हे करुणासागर मैं शीघ्र ही पाप शत्रुका संहार कर पुनः किसी भी जीव मात्र से वैर नहीं करूंगा क्योंकि हमारे पिता यशोधर महाराज और पितामही चंद्रमती ने एक बाल्मी

पिष्ट निर्मित कुर्कुटका कुल देवी के सन्मुख बलिप्रदान किया जिससे संसार भ्रमण कर असंख्य कष्टों के भाजन बने और मुझ दुष्ट पापिष्ट द्वारा अनेक बार हते गए।

श्री मुने ! मैं ऐसा मूर्ख होगया कि मुझे इस बातका किंचित् भी ज्ञान न रहा कि अपने पूज्य पिता और पिता महीका बध किस प्रकार कराता हूं सत्यही है कि जिह्वा लंपटी मांस भत्ती ब्राह्मणों के मिथ्या उपदेश से असंख्य जन समूह नरक निगोद के पात्र बन गये।

स्वामिन् ! जिस धर्म रहित किंतु अधर्म युक्त श्राद्धलक्षण और यज्ञ धर्म प्ररूपक शासन में सर्वज्ञ नहीं उस संप्रदाय में जीव दयारूप विवेक किस प्रकार हो सकता है जिस २ धर्म में वनचर, नभचर और जलचर जीवोंका बध किया और उसे धर्म कहकर पुकारे उस मार्ग में दयाका लेश भी नहीं किंतु अज्ञानता से निज कुटुंबियोंका भी बध किया जाता है।

नाथ ! मैं ने भी वेदाभ्यासी बिप्रों के उपदेश से अनेक जीवोंका बध किया किंतु अपने पिता और पितामही के जीवका अनेक बार घात किया उसे देखने को कौन समर्थहै

इस प्रकार यशोमति महाराज ने श्री मुनि के सन्मुख पश्चाताप रूप बचन कहकर पश्चात् कल्याण मित्र सेठ से कहने लगे कि:—

बणिकवर श्रेष्ठिन् ! तुमने हमारा बड़ा भारी उपकार किया आपके संसर्ग से मुनि हत्या से मुक्त होकर संसार भ्रमण से भी रहित हो जाऊंगा इस कारण समस्त परिग्रहका त्याग कर पाणिपात्र आहार करूंगा॥

मूल प्राकृत

सिंहासण छत्तइं वरवाइत्तइं विहइं चिंधइं चामरइं ।
रहवर मायंगवि चवल तुरंगवि भडसेणइं पंजलि यरइं ॥

संस्कृत छाया

सिंहासन छत्राणिवरवाद्यानि विविधानि चिन्हानि चामराणि। रथवर मातंगानि अपि चपल तुरंगाणि अपि भटश्रेण्यानि अंजुलि करणाणि ॥

भावार्थ ॥

सिंहासन, छत्र, श्रेष्ठवादित्र, अनेक प्रकार राज्य चिन्ह (ध्वजा पताकादि) चमर, रथ, श्रेष्ठ मातंग (हस्ती) चपल, तुरंग, और अंजली जोड़ने वाली, भटों की सेना, इत्यादि समस्त राज्य सुख का त्याग किया, किन्तु अभय रुचि कुमार मेरा पुत्र उसका अनुभव करो ॥

संस्कृत टीका अर्थ ॥

श्रेष्ठिवर ! आप श्री मुनि से मेरी तरफ से प्रार्थना करो कि मुझपर प्रशन्न चित्त होकर, जिनदीक्षा देंइ ॥

प्रियमित्र ! कल्याणमित्र ! मैंतो जिनदीक्षा ग्रहण करता हूं और आप नगर में जाकर समस्त नगर राजकर्म चारीगण और अंतपुर निवासियों को सूचित करो कि यशोमति नृपने जिनदीक्षा ग्रहण की तथा अभयरुचिकुमार को राज्य दिया, और केलिकंद, सदृश सुकुमार शरीर, हिरणी नयना अभय रुची कुमारी को अहिछत्र नगर के राजा के अरिदमन नामक पुत्र के साथ पाणीग्रहण करो ॥

इस प्रकार महाराजने जिस समय उपरोक्त वार्त्ता कल्याण मित्र से कही-तत्काल बिजली की भांति समस्त

नगर में इस प्रकार फैलगई, कि महाराज महाराज को बहुत उत्तम प्रकार मृगया (शिकार) का लाभ हुआ, अर्थात् श्री मुनि के दर्शन से धर्म का लाभ हुआ ॥

उपरोक्त समस्त रहस्य नगर व्यापी होकर अंतपुर में भी प्रवेश करगया, उस समय रनवास में खलबली पड़गई और परस्पर इस प्रकार वार्त्ता होने लगी ॥

एकरानी- (दूसरीसे) प्रियभगिनी ! अपनें भर्त्तार-नें तो हमतुम सब से स्नेह छोड़ दिया किंतु मुनिव्रत ग्रहण करलिया- अब ललाट में कस्तूरी की रचना से क्या प्रयोजन।

अन्यरानी – अरीमुग्धे ! यह विचित्र चित्राम क्यों लिखती है, स्वामी तो काम चरित्र से विरक्त होगया ॥

अन्यरानी-(अन्यसे) प्रियसखि ! वस्त्राभरणादि-मंडन से क्या प्रयोजन रहा, प्राणवल्लभ तो तपो मंडन में रंजित चित हुआ है ॥

अन्य- अरी बावली ! अब क्या बाजे बजाती है बिधाता तो औरहीराग आलापने लगा, अर्थात् प्राणनाथ को समस्त स्त्रियों से बिरक्त कर मोक्ष वनिता में आशक्त चित्त करदिया ॥

एकरानी —शोभने ! अब क्या केश संस्कार करतीहै पतितो निज केशोंके उपाड़ने में दत्तचित्त होकर बनोबासी हुआ है ॥

इत्यादि वार्त्ता करतीं योतिता गण ! हाहाकार का शब्द करने लगीं, वहां कोई स्त्री निज कपोलों में विचित्र रचना करतीथी वह भरतार की वार्ता श्रवण कर निज कपो-लों में हाथरख इस प्रकार हाहाकार करने लगी कि हा विधाता तैंने यह क्या विपरीति कार्य किया ॥

कोई महारानी! मुक्तामणियों को गुण (सूत) में पोरतीथी वह निज प्राण वल्लभी की वार्ता सुनकर निज मनरूप मुक्ता को मुनि के गुणों में लगाने लगी ॥

कोई स्त्री निज भरतार को दीक्षा के सन्मुख होनेकी सूचना श्रवण कर एक दम शिथिल शरीरा होगई कि जिसकी कुंचुकी शिथिल होकर गिरपड़ी ॥

कोई स्त्री निज भरतार के बिरह में व्याकुल चित्त कंपित गात्रा होती होती प्रश्वेद बिंदु से व्याप्त होनेलगी ॥

कोई रमणी निज स्वामी की वार्त्ता श्रवण कर दुःख से व्याकुल होती अश्रुधरा से मुख प्रक्षालती निजमणियों के पग नूपुरोंकी झनकार करतीं गृहांगण में भ्रमण करतीं बिलाप करने लगीं पश्चात् समस्त योषगण बिलाप करती मस्तक और उरस्थल कूटती, नंदन बन में जहां श्री-मुनि महाराज के निकट यशोमति महाराज जिनदीक्षा को उद्यमी थे वहां पहुंचीं ॥

मूल प्राकृत ॥

णहपहाजियमणिहिंचलहारमणिहिंपाथिवरमणिहिंपत्थियउ
विणडिउ तव चरणे सिरि सुहरणों तुहुंदइवेण गलत्थियउ ॥

संस्कृत छाया ॥

नखप्रभाजितसुमणिभिः चलहारिमणिभिः पार्थिवःरमणीभि
प्रार्थितः। वंचितःतपश्चरणेन श्रीसुखहरणेनत्वंदैवेनगलगृहीतः

मूलार्थ ॥

नखों की प्रभासे मणियों की दीप्तिको तिरस्कार करती और चलायमान हारों की मणियों कर युक्त रमणियों ने महाराज यशोमति से इस प्रकार प्रार्थना की कि स्वामिन्,

देवेनें लक्ष्मी सुख के घातक तपश्चरण द्वारा आपको ठगलिया ॥

संस्कृत टीकार्थ ।

प्राणवल्लभ ! आप स्वर्ग सुख के अर्थ तपश्चरण करते हो सो हम समस्त स्त्रियां अप्सरा हैं सुन्दर मनोहर महल विमान तुल्य हैं और प्रिय संगम है वही सुख है इस स्थल मेंआपको स्वर्ग सुखसे किस बातकी न्यूनता है जो आप बर्त्तमान सुख का तिरस्कार कर आगामी सुखकी वाञ्छा कर तपश्चरण के कष्ट को सहते हो ॥

इस प्रकार धूर्त्ता स्त्रियोंने अनेक प्रकार स्नेहरूप पाशी से यशोमति को रोकना चाहा परंतु राजा के चित्त में एक भी न आया किंतु जिनदीक्षा में दत्त चित्त होकर तिष्टता भया ॥

अभय रुचि कुमार क्षुल्लक ! मारिदत्त नृपति से और भी कहने लगे कि राजन् ! उसस मुझे और मेरी भगिनी अभय मती को समस्त बृतांत की सूचना मिली तत्काल हमदोनों ही अनेक वादित्रों के समूह से व्याप्त मदोन्मत्त गजराजों कर चढ़े तथा उच्चस्वर करते पवन तुल्य द्रुतगामी अश्वारूढ़ और नग्नखड्ग धारण किये योद्धा ओंकर वेष्टित तथा मनोरथ समान रथों में आरूढ़ सुभटों और पयादों कर यक्त राज कर्म चारीयों कर सहित चमर छत्रादि राज्य विभति कर पर्ण पालिकी में आरोहण कर नंदन वनमें जहां श्रीमुनि विराजमान थे वहां पहंचे ॥

मूल प्राकृत ॥

पारिसोसियपरियरु अधवु अचाम्मरु चरिपरियणा उाद्धियसयरु ।
खोखियलेणि विउउदो हिसिदि टउणर वइणं सामण्णुणारु ॥

संस्कृत छाया

पार्श्वेऽपि न परिकरः अध्वजः अचामरः चारित्र रत्नाय प्रसारितकरः। क्षोणीतले निविष्टः भ्रातृ भगिनीभ्यां दृष्टः नृपतिः इव सामान्यनरः ॥

मूलार्थ

हम दोनों भाई वहिनोंने यशोधर नृपको समस्त राज्य परिकर ध्वजा और चमर से रहित तथा चारित्र रत्नके अर्थ हाथ फैलाते पृथ्वी तल पर तिष्ठ सामान्य मनुष्य की भांति देखा ॥

संस्कृत टीकार्थ

नृपवर ! उस समय हमभी वहांपर बैठगये तत्पश्चात् श्री मुनिराजके मुख कमलसे अपने भवांतरकी कथा को श्रवणकर जैसाही उसका स्मरण हुवा था कि तत्काल हम दोनों मूर्च्छायुक्त होकर पृथ्वीतलपर पड़े उस समय हमारी माता कुशुमावली हमारे स्नेहमें मुग्ध होकर विलाप करने लगी तत्काल दासियोंने शीतलोपचार कर हम दोनोंको सचेत किया तो जैसेही हमारी मूर्छा जागी कि हम दोनो ही श्रीमुनिराजके चरणों को नमस्कार कर तिष्ठे ॥

नृपवर—उस समय मेरी माता कुसुमावली मुझे मुनि चरणोंके निकट तिष्ठा देख मेरा हाथ पकड़ अपनी गोदमें बैठाकर मुख चूमती कहने लगी कि प्रिय पुत्र ! तू क्या उदास चित्त होगया तूतो अभी बालक है तू इन बातोंको क्या समझता है उठ घरको चल निजका दिया राज्य शासन कर इत्यादि वचन कहती अपना उरस्थल कूटती विलाप करने लगी पश्चात् विह्वल चित्त होकर मूर्छा खा

कर पृथ्वीमें पड़ी उस समय अंतःपुरकी समस्त रानियोंने अनेक प्रकार शीतोपचारकर समझाया और प्रिय वाक्य कहने लगी कि।

एक रानी—प्रियभगिनी! उठ उठ प्रियवचन बोल नाथ के कहे हुए बचनोंको धारण कर तूने मेरे दुर्भाग्य का तिरस्कार कर शौभाग्य दिया सो अब क्यों विलाप करती है।

द्वि० रानी—भो सखि! क्या सोच करती है तैंने मुझे बस्त्राभूषणोंसे भूषित कर भर्त्तार के पास भेजीथी सो अब भर्त्तार तपश्चरण में तत्पर है सो यदि तूही ऐसा करेगी तो मेरी खबर कौन लेगा।

अन्य रानी—प्रिय भगिनी—अब क्या शोचकरती है हे कल्याण रूपी करुणारूपी ब्रत ग्रहणके अर्थ जातेहुए निज भर्तार का अनुकरण कर।

मूलप्राकृत

तामच्छ पमाएवि अम्हइं जोएव पमलियजलोल्लियइं।
महएविहिणेत्तइं उसासित्तइणं सपवत्तइं डोल्लियइं॥

संस्कृत छाया।

ततः मूर्छात्यक्त आवां दृष्ट्वाप्रलिताश्रुजलोल्लतौ।
महादिव्यनेत्रौ उष्णाशिक्तौ अपि अपिसतपत्रौ॥

मूलार्थ

तदनंतर मूर्छा को त्याग कर पड़ता जल का समूह नेत्रोंसे जिसके ऐसी देवी का मुखावलोकन कर शीतकर मुर्झाये शत पत्र कमल तुल्य होगया॥

संस्कृतटीकार्थ

उस समय कुसुमावली महारानी निज हृदयमें चिंतवन करनेलगी ये दोनों बालक श्रीमुनिके वचनोंका श्रवण कर मूर्छा प्राप्त क्योंकर हुए॥

अभयरुचिकुमार क्षुल्लक—मारिदत्त नृपसे कहनेलगे कि राजन! उस समय हमारी माता कुसुमावली उपरोक्त चिंतवन कर हम दोनों (भ्रात भगिनी) को अपनी गोद में बैठाकर हमारे मुखपर अपना हाथ फेर कर प्रिय बचन कहने लगी।

कुसुमावली—प्रियपुत्र! श्रीमुनितो निज स्वच्छ ज्ञान द्वारा जगत् के समस्त चराचर पदार्थों को जानते हैं तुम ने क्या जाना और देखा जो मूर्छित होकर पृथ्वी तल पर शयन करने लगे॥

अभयरुचिकुमार—मातुश्री! हम दोनोंने श्रीमुनिके मुख कमल से निज भवावली का श्रवण किया उसीका स्मरण कर हम दोनों मूर्छित होगए क्योंकि ज्ञानी मुनि के वचन कहीं अन्यथा भी होते हैं कदापि नहीं।

कुसुमावली—प्रियपुत्र! श्रीमुनिराजनें तुम्हारे भवों का किसप्रकार वर्णन किया उसके श्रवण करनेकी मुझे विशेष उत्कंठा होरही है सो क्या तू पुनः प्रतिपादन करसक्ता है

अभयरुचिकुमार—मातः मैं संक्षेप से कहताहूं तू उसे श्रवणकर अंबिके! हम दोनों राजा यशोधर और चंद्रमती थे उस भवमें चूनका मुर्गा बनाकर देवीके अर्थ बलिप्रदान किया उसी मिथ्या कर्मके प्रसाद से विष मिश्रित भोजनों के योगसे मरण प्राप्तकर मयूर और श्वान भए वहां आरण्यमें न्योला और सर्प वहां से सिप्रानदी में सूंसि और मत्स वहांसे बकरा और महिष वहां से कुर्कुट युगल और उस पर्यायसे तेरे स्वच्छ उदरसे पुत्र पुत्री हुए इसकारण हे वर्तमान भवकी मात! हे पूर्व भवकी पुत्र वधू! अबतू श्री मुनि केचरणों को प्रणाम कर॥

इस प्रकार हमारे कहने से श्री मुनिको प्रणाम कर महाराज यशोमति नृपति के आदेश से महाराज यशोमति और मुझ सहित नगर प्रति पधार गई, उसके साथ समस्त रानी राज करमचारी, और कल्यणमित्र सेठ भी नगर में पहुंच गए, वहां कल्यणमित्र सेठ नें मुझसे कहा ॥

कल्याणमित्र—प्रियभ्रात अभयरुचि कुमार ! तुह्मारे पिता महाराज यशोमति तो दीक्षा के अर्थ उद्यमी हैं, अब तुम इस सप्तांग राज्य का न्यायपूर्वक पालन करो, और कुटुंबी जनोको तथा अपनी माता को संतोपित करो।

उपरोक्त कल्याणमित्र सेठ के वचन सुनकर, अनेक भवों के खेऽ से खेदित मैं इस प्रकार कहने लगा ॥

मूल प्राकृत ॥

सोमुहु पियणंदणं रायणांदणु इह परज्जे परिट्ठविउ ।
एवहि तहो तणु रुहुं हउं ससहरमहुं दइवेचंगउ सिक्खविउ ॥

संस्कृत छाया ॥

सः मम प्रियनंदनः नयनानंदनः इह मयाराज्ये परिस्थापितः।
इदानी,तत्तु,तनुरुहः पत्रःअहं शशिधरमुखः दैवेन सद्रं शिक्षितम्

मूलार्थ ॥

मैं (अभयरुचिकुमार) श्रेष्ठिवर्य ! यह यशोमति पूर्व भवांतर में नेत्रानन्द दायक मेरा पुत्रथा उसे मैंने ही राज्य में स्थापन किया था सो अब इस भव में चन्द्रमा सदस सुखका धारक मैं उसका पुत्र हुआ हूं सेठ जी।-दैवेन, कितना उत्तम शिक्षण किया ॥

संस्कृत टीकार्थ ॥

वणिकवर ! अब आपही कहिये, कि दान क्रमको क्या

में उल्लंघन करूं, अर्थात् निज हस्त द्वारा दिये हुए दान का पुनः ग्रहण करो ॥

अबतो मोह पटल रूप सघन वस्त्र से वेष्टित, स्नेहरूप पर्वत की गुफा का स्फोटनकर तपोलक्ष्मी का मुखावलोकन करूंगा ॥

कल्याण मित्र—प्रियकुमार! अभी तपश्चरण का कौन समय है इस समय तो आपको सबसे प्रथम राज विद्या की शिक्षालेना आवश्यक है क्योंकि राज विद्या विना राज्य शासन करना दुःसाध्यहै और राज्य शासन विना समस्त प्रजा अन्याय मार्ग में प्रवर्तने लगतीहै इस से श्रावक धर्म और मुनि धर्म एवं दोनों नष्ट हो जातेहैं ॥

कुमार जब जिनराज कथित दोनों मार्ग धरातल से जाते रहैं, तो राज गृह में आपको जन्म लेना ही व्यर्थ होगया, इस कारण राज करना परमावश्यक कार्यहै इस कारण, राज्य कर्म का जानना आन्वीक्षिणी विद्या निजदेह रक्षण और मनुष्यों में धर्माधर्म की विधि त्रयीविद्या—अर्थ और अनर्थ की प्रवृति रूप ज्ञान वार्त्ता विद्या, और सुनय और कुनय के मार्ग के प्रवर्त्तावने रूप दंडका जानना दंडनीति एवं उपरोक्त चारो ही राज राज विद्याओंका ज्ञान होना प्रथम कर्तव्य कर्महै ऐसा सुन मैंने कहा ॥

मूल प्राकृत ॥

खमदम समुच्चे विमल सउचे जीवदयाए पवणियउ ।
सामण्णु पवणहं लिंगहिं त्रिण्ण वसहंएहु धम्मु मइमाणियउ ॥

संस्कृत छाया ॥

क्षमदम सम सत्येन विमल शौचेन जीवदया प्रवर्णितः।
श्रामण्यं प्राप्तानां लिंगिनां गृहस्थाः एव धर्म मयाज्ञातं ॥

मूलार्थ ॥

क्षमा, इंद्रियों का दमन समभाव सत्य और निर्मल शौचद्वारा ही जीव दया प्रति पादन कीगई है सो पूर्ण दया के पालक मुनि मुनियों का धर्म, गृहस्थों से ही चलता है, मैं ने यह निश्चित जानलिया ॥

संस्कृत टीकार्थ ।

बणिक श्रेष्ट ! इंद्र धरणेंद्र, नरेंद्र और खगेंद्रों कर पूजित श्री भगवान् सर्वज्ञ भाषित जो धर्म है वह राज्य शासन विना नष्ट हो जाता है ॥

अभयरुचि कुमार क्षुल्लक मारिदत्त नृपति से और भी कहने लगे कि नृप श्रेष्ट, उस समय यद्यपि मैं, संसार के दुःखों से अत्यंत भय युक्तथा तथापि पिता द्वारा दिया पाप रूपराज्य को अंगीकार कियाही ॥

राजन् ! जिस समय मेरा राज्याभिषेक हुआ उस समय बिविध प्रकार रत्नजटित वस्त्रभूषणों से भूषित दिव्य अंगना ओंके समूह, चंमर ढ़ातरतेथे कोई योषिता गण ध्वजा हाथ में लियें इधर उधर घूमती थी, किसी स्थान में केशर कस्तूरी, कर्पूर, आदि की सुगंध से भ्रमर गुंजार करते थे, कहीं गंधर्वजन बीणा मृदंगादि वादित्रों को, वजाते- अनेक प्रकार मनोहर स्वरों में यशगान करतेथे, किसी स्थल में मदोन्मत्त हाथियों के शब्द, कहीं मनोहर तुरंगों का हीसना, कर्णों को तृप्त करते थे, और वादित्रों की

ध्वनि से मिले हुए लोकों की जयकार ध्वनि से समस्त नगर पूरित होरहाथा, इत्यादि शोभा और उत्सव सहित, मेरे पिता यशोमति महाराजनें मेरा राज्या रोहण किया पश्चात् मुझे और मेरी माता आदि समस्त कुटुंब को संबोधित कर वन प्रति गमन करगए, वहां श्री मुनिराज को विनय पूर्वक नमस्कार कर भव भ्रमण नाशिनी दिगंबरी दिक्षा धारण करते भये ॥

नृपवर हमारे पिता यशोमति ने जिससमय तपश्चरण गृहण किया, उसी समय अंत पुर की योषिताओंने भी अर्जिका के व्रत ग्रहण किये ॥

यशोमति महाराज ने दीक्षा ग्रहण करते समय निज कर कमलों द्वारा, केशोंका लुंचन किया सो मानों अंतरंग से कृष्न नील लेश्या का ही तिरस्कार किया, यशोमति महाराज नें जो वस्त्र आभूषण और शस्त्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग किया सो मानों राग द्वेष का ही अंतरग परिहार किया ॥

नृपराज! हमारे पिताने ऋषियों के चारित्र को ग्रहण कर घोर वीर तपश्चरणका आरम्भ किया वह तपश्चरण, जन्म मरणादि व्याधियों का नाशक है उसी को धारण कर यशोमति मुनि, रागद्वेष, मान, मत्सर आदि भावों को त्याग, करम रूप पाशिके नाश करने को निरजन वन, श्मशान भूमि और गिरगुफा आदि में निवाश करते बेला, तेला, पक्ष मासो पवास धारण करते भये ॥

मूल प्राकृत ॥

घर मोहिणि संभिणिय महु रूंधिवि तिणिवि सल्लइखंडियइं ।
गुणमणि चिंचइयइं पितु पावइ पंच्च विकरणइं दंडियइं ॥

संस्कृत छाया ॥

गृहमोहंहत्स्त्रानिजमनःरुध्वात्रीणि अपिशल्यानिखंडितानि
गुणमणिभूषितेनपित्राप्रीविजितपंचअपिकरणानिदंडितानि।

मूलार्थ

गुणरूप मणियोंसे भूषित हमारे पिताने घरके मोहको छोड़ निज मनको रोक माया मिथ्या और निदान ऐवं तीनों शल्यों को खंडन कर पांचो इंद्रियों को दंडित कर निर्जित किया।

संस्कृतटीकार्थ

तुल्लक महाराज कहनेलगे कि राजन्! हमारे पिता यशोमति तो उपरोक्त प्रकार तपश्चरण से निज कर्मों को नष्ट करनेलगे और मैं संसारसे उदास तो थाही किंतु पिता और कल्याणमित्र सेठके आग्रहसे मैंने राजभार ग्रहण कर लिया था परन्तु निज मनकी उदासीनता को कहां तक रोकता इस कारण अति विनययुक्त निज द्वि मात भाई को कुलकी लक्ष्मीकर शोभित राज्य भार समर्पण कर उप सम भाव सहित समस्त गृहारम्भादि कार्योंका त्याग कर मैं और मेरी भगिनी अभयमती एवं दोनोही संसार देह भोगों से विरक्त होकर जहां उद्यान श्री दिगम्बर साधु विराजमानथे वहां जाकर श्रीमुनिको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगे कि स्वामिन! हमको जिन दीक्षा दीजिये इस प्रकार हमारी प्रार्थना को सुनकर वे वीतराग भावके धारक श्रीभट्टारक महाराज कहने लगे।

भट्टारक—अहोवत्स! अभीतो तुम क्षीण शरीर कमल दल तुल्य कोमलांगी बालक हो और जिन दीक्षा अत्यंत

दुःसह है इसका निर्वाह बालकोंसे नहीं होसकता इस कारण उत्तम श्रावक के व्रतको तुम दोंनो ग्रहणकरो।

भो पुत्र! तुम दोनों भ्राता भगिनी; यद्यपि संसार देह भोगोंसे विरक्त चित्त हो इस कारण तुम्हारा परिणाम अभी जिन दीक्षा के ग्रहणमें वृद्धिगत होरहा है परंतु तुम अभी सुकुमार अल्प वयस्क बालक हो इस कारण मुनि राजके लघु भ्राता चुल्लकके व्रतको धारण करो।

कुमार! यद्यपि तुम्हारा हृदय उच्चश्रेणीके आरोहण में संलग्न है तथापि प्रथम इस चुल्लक व्रतका साधन करो इसमें पूर्ण सिद्ध होजाइ पश्चात् मुनिव्रत ग्रहण करना ऐसा करने से तुम्हारा निर्वाह पूर्णतया होजाइगा।

इस प्रकार श्रीमुनि महाराज के वचन श्रवणकर हम दोनों ने पूछा कि स्वामिन्! तो यहतो बतलाइये कि इस चुल्लक व्रतमें हम दोनों को क्या कार्य करना होगा।

श्रीमुनि कहने लगे भो वत्स! इस व्रतमें प्रथमही गुरू सेवा पूर्वक शास्त्राभ्यास करो जिसके द्वारा अन्य मतों की मूर्खता का बोध होनेसे स्वमत में आस्था होगी तब सम्यग्दर्शन की दृढ़ता होगी।

इस सम्यक्त्वकी शुद्धताके अर्थ जात्यादि अष्टमद शंकादिक अष्ट दोष षट आनायतन और तीन मूढ़ता एवं पच्चीस दोषोंका निराकरण कर जिससे सम्यग्दर्शन शुद्ध होकर संसारका नाशकर मोक्ष प्राप्ति मै यथार्थ सहायक होगा

राजन्! उपरोक्त प्रकार श्रीमुनिके वचन सुन मैने पुनः पूछा कि स्वामिन्! आपने जो कुछ कहा वह सर्व सत्यहै परंतु इतने कहनेसे तृप्ति न हुई इस कारण उपरोक्त कथन

को पुनः विस्तार पूर्वक प्रतिपादन कीजिये अर्थात् अष्ट मद कौन षट् अनायन कैसे और शंकादिक दोष कौन इत्यादि समस्त कथन पुनः कहिये।

इस प्रकार हमारे प्रश्न करने पर श्रीमुनि महाराजने उत्तर दिया कि कुमार! उपरोक्त कथनको मैं पुनः कहताहूं तू चितलगाकर श्रवण कर।

श्रीमुनिराज वत्स! प्रथम अष्ट मदों का वर्णन करताहूं अर्थात् ज्ञान पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धी तप और वपु एवं आठ प्रकार का मद आचार्योंने वर्णन किया है उपरोक्त ज्ञानादिक का अहंकार करना समग्दर्शन को दूषित करना है इस कारण ज्ञानादिक का मद नहीं करना।

इसी प्रकार जिन बचनमें संदेह करना शंका इसभव तथा परलोक संबंधी भोगोंकी वांछा कांचा दुःखी दलिद्री रोग पीड़ित को देख गान करना विचिकित्सा देव शास्त्र और गुरूकी सेवा आदि में मूर्खता करना अर्थात् देव कुदेवमें शास्त्र कुशास्त्र में और सुगुरू कुगुरू में किसी प्रकार का भेद न जानकर सबकी पूजा विनय उपासना आदिमें तत्पर रहना मूढ़ दृष्टि जिस कार्य से जैन शाशनकी निंदा होइ उसे प्रगट करना इत्यादि अनुप ग्रहण जिस कार्यसे अन्य जीव धर्म से च्युत होजाइ वह आस्थिति करना स्वधर्म प्रतिपालकोंसे स्नेह नहीं करना अवात्सल्य और जिन शासनकी प्रभावना न करना उसे अप्रभावना कहते हैं।

इसी भांति कुगुरु कुदेव और कुधर्म एवं तीन ये तथा कुगुरुके सेवक कुदेवके पूजक और कुधर्म के धारक एवं तीनये इस प्रकार इन छहोंकी प्रशंसा वाचक शब्द कहना षट् अनायतन हैं।

तथा धर्म जानकर गंगा आदि नदियों तलावों और समुद्रमें स्नान न करना—बालुका और पत्थरोंका ढेरकरना गिरि (पर्वतोंसे गिरना अग्निमें प्रवेश करना आदि मूर्खों की देखा देखी विवेक बिना गाडुरी प्रवाह तुल्य कार्य कर लोक मूढ़ता है ।

तथा वरकी इच्छासे हृदय में आशा धारण कर रागी द्वेषी देवों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, शीतला, तिहाड़ी आदि शुद्र देवता पीर पैगम्बर आदिकों की उपासना करना अर्थात् उपर्युक्त रागी द्वेषी देवताओंकी पूजा पालागी करना देव मूढ़ता है ।

इसीप्रकार—परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार चक्रमें रहनेवाले पाखंडी साधु तपस्वियोंकी आदर सन्मान भक्ति पूजा करना पाखंडी मूढ़ता अर्थात् गुरु मूढ़ता है ।

इस प्रकार उपरोक्त पच्चीस दोषों को त्यागने सम्यक दरशन शुद्ध होता है और यही देव शास्त्र गुरु का तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान रूप सम्यग्दरशन, निःशंकादि अंगोंसे जब पूरण होवे तब निर्मल होता है, इस कारण सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका वरणन करते हैं ॥

निःशंकित अंग ॥१॥

सर्वज्ञ बीतराग कथित तत्व (वस्तुका स्वरूप) यहीहै, इसी प्रकार है किंतु और नहीं तथा अन्य प्रकार भी नहीं इस प्रकार जैन मारग में खड़ग के जल समान अकंप निश्चल) श्रद्धान को निःशंकित अंग कहते है

निःकांक्षित अंग ॥ २ ॥

कर्मों के परवशरूप, नाशवान्, दुःखों से पूर्ण पाप

का बीज भूत और अनित्य एवं संसारिक सुखको अनित्य रूप श्रद्धा अर्थात् उपरोक्त प्रकार संसारके सुखकी वांछा न करना निःकांक्षित गुण है ।

निर्विचिकित्सित अंग ॥३॥

दुःखी दलिद्री और रोग पीड़ित जीवोंके शरीर को देखकर ग्लानि न करना तथा स्वभाव से ही अपवित्र किंतु रत्नत्रय से पवित्र धर्मात्माओंके शरीर में घृणा न करना किंतु गुणों में प्रीति धारण करना, निर्विचिकित्सित अंगहै ।

अमूढ दृष्टि अंग ॥ ४ ॥

दुखोंसे पूर्ण कुत्सित मारग तथा मिथ्या पथके पथिक मिथ्या दृष्टियों मन कर सम्मत न होना कायकर सराहना न करना, और बचन द्वारा प्रशंसा नहीं करना, उसे अमूढ़ दृष्टि कहते हैं ।

उपगूहन अंग ॥ ५ ॥

श्रीजैन मारग यद्यपि स्वयं पवित्र हैं तथा मूर्ख जन उसकी निंदा करते हैं सो जो जैन मारग की निंदा को दूरकरे वह उपगूहन अंग है, अर्थात् जो जैनी स्वयं निंदित कार्य्य न करे तथा किसी धरमात्मा द्वारा किसी प्रकार कर्मोदय से निंद्य कार्य्य बन गयाहो उसे गुप्त रखना किंतु उसे प्रगट नहीं होने देना यही उपगूहन अंगहै ॥

स्थिति कारण अंग ॥६ ॥

सम्यग्दरशन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र से किसी च्युत हुए प्राणियों को कोई धर्मात्मा पुरुष ! निज तन मन और धनसे तथा उत्तम उपदेश द्वारा धर्म में स्थापित करना उसे स्थिति करण कहते हैं ॥

वात्सल्यअंग

जो अपने सहधर्मी भाइयों प्रति समीचीन भावों सहित किंतु छल कपटरहित यथायोग्य आदर सत्कार करना. उसे वात्सल्य कहते हैं ।

प्रभावना अंग.

मिथ्यात्व अज्ञानरूपी अंधकारके विस्तारको जिस प्रकार होसके उस प्रकार अर्थात् निज ज्ञानोपदेश पूजा प्रतिष्ठा और तपश्चरण आदि द्वारा तथा तन, मन, धन, से अन्य मतावलंबियों में जिन मत का महत्व प्रभाव प्रगट करदेना उसे वीतराग सर्वज्ञ ने प्रभावना अंग वर्णन किया है ॥

वत्स ! जिस प्रकार अक्षर रहित मंत्र विषकी वेदना को दूर नहीं करसकता उसीप्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शनभी संसारकी परिपाटीके छेदनेमें समर्थ नहीं होता इस कारण अष्टांग सम्यग्दर्शनही धारण करना योग्य है ।

इस प्रकार कथनकर श्रीमुनिराज ने और भी कहा कि.

मूलप्राकृत

परणयविद्धंसणु सम्मदंसणु पहिलारउं णिय मणिधरहं ।
पुण पब्भभ्यंतरु भवकलिमल हरु पछए दुद्धरु तव चरहं ॥

संस्कृतछाया

परनयविध्वंसकं सम्यग्दर्शनं प्रथमंनिजमनसि धरंतं ।
पुनः वाह्याभ्यंतरं भवकलिमलहरं पश्चात् दुद्धरंतपंचरितम्

मूलार्थ

परमतकी नयका विध्वंस करनेवाले सम्यग्दर्शन को प्रथम अपने हृदय में धारण करना पुनः संसार सम्बन्धी

पापोंके हरण करनेवाले वाह्याभ्यंतर तपको पीछे आच-रण करना।

संस्कृत टीकार्थ

जैसे नायक बिना रथ घोटक मदोन्मत्त हस्ती और अनेक सुभटो की सेना शत्रु के सन्मुख युद्ध करनेमें असमर्थ होजाती है उसी प्रकार एक सम्यग्दर्शन विना अनेक प्रकार दुर्द्धर तपश्चरण भी निरर्थक है।

इसीप्रकार जैसे बीज बिना वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फलोद्गम नहीं होता उसी भांति सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और पूर्ण फलकी प्राप्ति नहीं होती।

उपरोक्त सम्यक्त्व के समान इस जीवका तीनलोक में कोई कल्याण नहीं इसीप्रकार मिथ्यात्व समान इस जीव का लोक त्रय में कोई अकल्याण नहीं इस कारण मिथ्या स्वरूप विषको वमन कर सम्यक्त्व रूप अमृतका पान करना योग्य।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का धारण करनेसे ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होजाता है इस कारण सम्यग्ज्ञान का स्वरूप संक्षेप मात्र तुझे सुनाता हूं।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

जो पदार्थों के स्वरूपको न्यूनता रहित तथा अधिकता रहित और बिपरीतता रहित अर्थात् जैसे का तैसा संदेह रहित जानें उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

यही सम्यग्ज्ञान ! सर्वज्ञ वीतराग कथित स्याद्वादयुक्त शास्त्र द्वारा उत्पन्न होता है और वह जैन शास्त्र प्रथमानु-

योग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग एवं चार अनुयोगों में विभक्त हुआ है इस कारण उपरोक्त चारों अनुयोगों का संक्षेप स्वरूप सुनाताहूं ।

प्रथमानुयोग

जो परमार्थ विषयका अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कहनेवाला हो एक पुरुष के आश्रय जिसमें कथन हो तथा जिसमें त्रेशठि शाला का पुरुषों का चरित्र प्रतिपादन किया हो जिसमें पुन्य पापके फलका वर्णनहो जो रत्नत्रयका भंडारहो वह प्रथमानुयोग आचार्योंने कहाहै

करणानुयोग

जो लोक अलोक के विभाग को तथा युगों [कालों] के परिवर्तन को तथा चारों गतियों का आदर्शन हो वह करणानुयोग है अर्थात् जिसमें लोक और अलोक के स्वरूप का वर्णन हो जिसमें अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल की आयुकाय आदि का वर्णन हो जिसमें चतुर्गतके जीवों के बंध सत्व उदय और उदीर्णा तथा सर्वप्रकार के जीवों के परिणामों का कथन हो वह करणानुयोग है ।

चरणानुयोग

जो गृहस्थ और मुनियोंके चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षाका अंगभूत हो अर्थात् जिसमें गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मकी विधिका पूर्ण कथन होइ वह चरणानुयोग है ।

द्रव्यानुयोग

जो जीव अजीव रूप तत्वोंको तथा पुण्य पाप और बंध मोक्षका विस्तारपूर्वक कहनेवालाहो वहद्रव्यानुयोग है

इसप्रकार उपरोक्त चारों अनुयोगों के रहस्यका ज्ञाता सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानको धारण करताहै इसके पश्चात्

सम्यक् चारित्रका स्वरूप संक्षेपता से प्रतिपादन करताहूं उसे चित्त लगाकर श्रवण करो।

यद्यपि मोहांधकार के नाशसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होजाती है, तो भी रागद्वेप की निवृत्ति के अर्थ सम्यग्ज्ञानी को एकोदेश तथा सर्वोदेश पंच पापोंका त्याग रूप व्यवहार चारित्र का पालन करना परमावश्यकीय है॥

जिस पुरुष को धनादिक की कांक्षा नहीं वह राजादिकों की सेवा क्यों करैगा, और जो धनादिक का इच्छक है, वय राजादिकों की सेवा अवश्य करैगा, इसी भांति जो पंच पापों से मुक्त होनेका इच्छक है वह रागद्वेष की निवृत्ति अवश्य करैगा, क्योंकि रागद्वेष के त्याग बिना पांच पापों का त्याग नहीं होता, और पांच पापों के त्याग बिना, रागद्वेष निवृत्ति रूप चारित्र का पालन नहीं होता, इस कारण उपरोक्त दोनों के त्याग को ही चारित्र कहते हैं, उसी का पालान करना उचित है॥

इस पंच पाप के त्यागरूप चारित्र के सकल और बिकल एवं दो भेद हैं अर्थात् सकल चारित्र जिसमें पंच पापों का सर्वथा त्याग जिसे मुनि धर्म भी कहते हैं, वह सकल चारित्र हैं, और जिसमें एकोदेश पंच पापों का त्याग हो उसे गृहस्थ प्रतिपालन करते हैं वह विकल चारित्र है॥

यही बिकल चारित्र, अर्थात् जिसमें हिंसा झूठ चोरी, कुशील और परिग्रह की तृष्णा एवं पंच पापोंका एकोदेश रूप चारित्र श्रावक धर्म है वह अणुव्रत, गुणव्रत और

शिक्षा व्रत एवं तीन भेद तथा इन ही के उत्तर भेद पंच अणु व्रत तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत एवं द्वादस भेद रूप है, तिन में प्रथम पंच अणुव्रतों के स्वरूप का बर्णन करते हैं ।

जो हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, और परिग्रह एवं पंच पापों से विरक्त होना, उसे अणुव्रत संज्ञाहै, इनमें प्रथम हिंसा के त्याग रूप प्रथम अहिंसा अणुव्रत का बर्णन करते हैं ।

अहिंसा अणुव्रत ॥

जो मन, वचन और कायके संकल्प से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से त्रस अर्थात् दो इन्द्रिय, तें द्रिय, चतुरिंद्रिय, और पंचेन्द्रिय जीवों को जो नहीं हनता उस क्रियाको (स्थूल हिंसासे विरक्त होने रूप) अहिंसा अणुव्रत कहते हैं ।

इसको मलिन करनेवाले पंच अतीचार हैं तिनके स्वरूप कहते हैं, अर्थात् छेदना, बांधना, पीड़ादेना, मर्याद से अधिक भारका लादना, और आहार पानी में त्रुटि करना एवं स्थूल हिंसा के त्यागरु अहिंसा अणुव्रत के पंच अतीचार हैं ॥

सत्य अणूव्रत ॥

जो स्थूल झूंठ न तो आप बोले और न औरोंसे बुलवावे तथा जिस वचनसे किसीको आपदा आजावे ऐसा यथार्थ भी न आप कहै और न दूसरों से कहलावे उसको सत पुरुष, स्थूल झूंट त्याग रूप सत्य अणुव्रत कहते हैं ।

सत्यअणुव्रत के पांच अतीचार ॥

मिथ्या उपदेश देना १ किसीके गुप्त रहस्य को प्रगट करना, अर्थात् अंगविकार भ्रू क्षेपादि से किसीका गुप्त अभिप्राय जानकर निंदा पूर्वक प्रगट करना (इसी को साकार मंत्र भेद भी कहते हैं) पैशून्य अर्थात् चुगली वा निन्दा करना- कूटलेख करणं अर्थात् झूंठीवातें लिखना और न्यासापहारिता अर्थात्, किसीनें गहने रुपये वगैरह, अमानत रक्खे हों और लेते समय गिनती में उसने भूलकर कुछ मांगे तो अपने याद रहते भी हां इतनेहीथे सो लेजाओ इत्यादिक कहना एवं पांच सत्य अणुव्रत के अतीचारहैं ।

अचौर्य अणुव्रत ॥

जो रक्खे हुए, गिरेहुए, भूलेहुए, और धरोहर रक्खे हुए परद्रव्य को न स्वयं हरण करता है, और न दूसरों को देताहै, वह स्थूल चौरीसे विरक्त होनें रूप अचौर्य्य अणुव्रंत आचार्योंने कहाहै ।

अचौर्य्याणु व्रतके पांच अतीचार ।

चोरीका उपाय बताना, चोरीका द्रव्य लेना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना अर्थात् राजाके महसूलआदि को चुराना, अधिक मूल्य की वस्त में हीन मूल्य की वस्त मिलाना और नापने तौलने के गज बाट तराजू आदिक हीन अधिक रखना ये पांच स्थल चोरी के त्याग में अर्थात् अचौर्य्याणव्रत में अतीचार कहे हैं ।

परदार निवृत्ति अर्थात् शीलव्रत ॥

जो पापके भयसे नतो स्वयं परस्त्री प्रति गमन करै और न दूसरों को गमन करावे वह परस्त्री त्याग अर्थात् स्वदार संतोष नामक अतीचार है ॥

परस्त्री त्याग व्रत के पांच अतीचार ॥

दूसरे का बिवाह कराना, काम सेवन के अंगोंसे भिन्न अंगोंद्वार, काम सेवन करना भंड बचन बोलना, स्व-स्त्रीके सेवन में भी अत्यंत गृद्धता रखना, और व्यभि-चारिणी स्त्रीके घरजाना तथा उससे किसी भी प्रकार का सम्बंध रखना, एवं पर स्त्री त्याग ब्रत के पांच अतीचारहैं।

परिग्रह परिमाणव्रत ।

जो वर्तमान धन धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा न करना, अर्थात् जितना परिग्रह अपने गृहमें विद्यमान हैं उसमेंसे आवश्यकीय पदार्थों का परिमाण करके शेषसे इच्छाका अवरोध करना, वह परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत है।

परिग्रह परिमाण व्रतके पांच अतीचार ॥

प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यकीय वस्तुओंका अतिशय संग्रह करना, परका विभव देख आश्चर्य करना, बहुत लोभ रखना, और परिमाण से अधिक भारका लादना एवं परिग्रह परिमाण ब्रत के पांच अतीचारहैं।

श्रीमुनि राज कहने लगे कि वत्स अतीचार रहित पंच अणुव्रतों के धारण करने से स्वर्गलोक की लक्ष्मी प्राप्ति होतीहै, जहां अवधि ज्ञान, अणिमादि रिद्धियां और मनोहर शरीर आदि सुखदा सामग्री की प्राप्ति होतीहै।

इस प्रकार कहकर श्रीमुनि पुंगवने और भी कहा कि राजकुमार! उपरोक्त पञ्च अणुव्रतों का धारनेवाला श्रावक अष्टमूल गुणोंका धारण करताहै अर्थात् पंच अणुव्रतों सहित मधुमांस और मदिरा का के त्याग को अष्टमूल गुण कहते हैं।

कोई कोई आचार्य्य ऊंमर, कठमर, पीपर, वड, और पाकर फल एवं पञ्च उदंबर तथा मदिरा, मांस, और मधु, एवम् तीन मकार इन आठ वस्तुओं के त्यागको अष्टमूल गुण कहते हैं ।

इस प्रकार पांच अणुव्रत और अष्टमूल गुणों का वर्णन कर अब तीन गुण व्रतों को कहताहूं, तिनमें प्रथम गुणव्रत का स्वरूप तुझे सुनाताहूं ।

गुणव्रत का स्वरूप और नाम ॥

जो गुणोंकी वृद्धिके अर्थ दिशादिकों की तथा भोगोपभोग की मर्य्यादा और अनर्थ दण्डको त्यागको गुण व्रत कहतेह, यह गुणव्रत, दिग्व्रत, भो गोप भोग परिमाण और अनर्थ दण्ड त्याग एवम् तीन प्रकार है, अब इनके भिन्न स्वरूप का वरणन करते हैं ।

दिग्व्रतका स्वरूप और उसके धारण करनेकी मर्यादा

मरण पर्यंत पापकी निवृत्तिके अर्थ दिशाओं का परिमाण करके इसके वाहर न तो जाऊंगा और न किसी प्रकार का व्यवहार करूंगा इस प्रकारके संकल्प करनेको दिग्व्रत कहते हैं तहां दशो दिशाओं के त्याग में प्रसिद्ध २ समुद्र नदी, वन, पर्वत, देश, और योजनआदि की हद्द को मर्यादा कहते हैं ।

दिग्व्रतका फल

दिग्व्रतके धारनेवालोंको मर्यादासे बाहर सूक्ष्म पापकी निवृति होनेसे जे अणुव्रत हैं वेही पंच महाव्रतों के समान होजाते हैं अर्थात् दिग्व्रतका धारक अपनी की हुई मर्यादा में तो श्रावकती है किंतु मर्यादा से बाहर न जानेसे वहां

पर कोईभी पाप नहीं करते इस कारण मर्यादा से बाहर मुनिराज के समान सर्व त्यागी हैं ।

दिग्व्रतके पांच अतीचार

अज्ञान व प्रमादसे ऊपरकी तथा नीचे तथा दिशा और विदिशाओं की मर्यादाका उल्लंघन करना क्षेत्र की मर्यादा बढ़ालेना और कीहुई मर्यादा को भूलजाना इस प्रकार दिग्व्रतके पांच अतीचार हैं ।

अनर्थदण्डका स्वरूप और भेद

पूर्व कीहुई दिशाओंकी मर्यादाके भीतर किसी प्रकार के प्रयोजन के बिना पापरूप आचरण करना उसे अनर्थ दंड कहते हैं यह पापोपदेश १ हिंसादान २ अप ध्यान ३ दुःश्रुत और प्रमाद चर्या एवं पांच प्रकार हैं अब इनके भेदोंका वर्णन करते हैं ।

पापोपदेश अनर्थ दण्ड

जिस वचन में तिर्यंचोंको दुःख हो तथा जिससे वाणिज्य हिंसा आरंभ और ठग विद्या आदिका प्रसंग आवे वह पापोपदेश नाम का अनर्थ दंड है ।

हिंसादान अनर्थ दण्ड

जो फरसा, तलवार, फाउड़े, अग्नि आयुध, सींगी सांकल और रस्सी आदि हिंसाके उपकरण अपने यहां रखकर दूसरोंको मांगेदेना तथा उनकाव्यापार करना अर्थात जिन वस्तुओंमें हिंसाकी प्रवृत्ति विशेष पाई जाइ उन हिंसा के उपकरणोंको मांगे देना या उनका व्यापार करना उसे हिंसा दान नामक अनर्थ दंड कहते हैं ।

अपध्यान-अनर्थदण्ड

क्रोध, मान, माया, और लोभ तथा हास्यादि द्वारा अन्य स्त्री पुरुषोंके नाशआदि का चिंतवन अथवा इस लोक परलोक संबंधी विषयोंकी इच्छा का अभिलाप आदि रौद्र तथा आर्त्त ध्यान रूप परिणामों को अपध्यान नामक अनर्थ दंड कहते हैं।

दुश्रुति अनर्थदण्ड

आरंभ, परिग्रह, साहस मिथ्यात्व द्वेष, राग, मद और मदन आदि से चित्तको क्लेशित करनेवाले शास्त्रोंके सुनने को दुश्रुति नामक अनर्थ दंड कहते हैं।

प्रमादचर्यानामक अनर्थ दण्ड

बिना प्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि, और पवन के आरंभ करने, वनस्पति छेदने, पर्यटन करने और दूसरे को पर्यटन कराने को प्रमाद चर्या नामक अनर्थदंड कहते हैं।

उपर्युक्त अनर्थ दंडके त्यागको अनर्थदंड त्याग नामक व्रत जानना अब इस व्रतके भंग करनेवाले पांच अतीचारों को कहता हूं।

अनर्थ दण्डके पांच अतीचार।

जोराग पूर्वक हास्य मिश्रित भंड वचन बोलना, कार्य की कुचेष्टा करना, वृथा बकवाद करना, व्यर्थ ही भोगोपभोग की सामग्री बाढ़ना, और प्रयोजन की जांच किये विनाही अथवा प्रयोजन रहित अधिकताके साथ मन वचन और कायकी प्रवर्त्ति को बाढ़ना एवं अनर्थ दंड व्रत के पांच अतीचार हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रतका स्वरूप।

जो रागादि भावोंके घटानेके अर्थ परिग्रह परिमाण व्रत

की मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इंद्रियों के विषयोंका प्रति-
दिन परिमाण करना उसे भोगोपभोग परिमाण व्रत
कहते हैं ।

भोग और उपभोग का निर्णय ॥

जो भोजन वस्त्र आदि पंचेंद्रिय संबंधी विषय भोग
करके पुनः त्यागने योग्य हो, अर्थात् एक वार भोगकर फिर
भोगने में नहीं आवे वह भोगहै, और जो एक वार भोग
करके फिर भी भोगने में आवे वह उप भोग है,जैसे जो
भोजन एकवार भक्षण करलिया, वह भक्षण किया हुआ
पुन भोगने में नहीं आवे वह भोग है, और जो स्त्री वस्त्र
आभूषण आदि को एकवार भोग कर फिर भोग सकता है
इस कारण वह उप भोग है ।

इसी भोगोप भोग परिमाण व्रत में विशेष त्याग ।

जिनेंद्र भगवान् के चरणोंकी शरण में आनेवाले महानु
भावों द्वारा त्रस जीवों की हिंसा के निवारणार्थ मधु मांस
का त्याग करना तथा प्रमाद दूर करने के अर्थ मदिरा का
भी परिहार करना योग्यहै ।

जिसमें फलतो अल्पहो और त्रस (द्वींद्रियादि) जीवों
की हिंसा अधिक हो ऐसे, गीले अर्थात् सचित्त (जीवयुक्त)
अदरख, मूली, गाजर, आलू आदि कंद मूल तथा मक्खन
(नौनीं निंब और केतकी आदिके पुष्प इत्यादि समस्तवस्तु-
ओं का त्याग करना योग्यहै ।

व्रत लक्षण ॥

जो अनिष्ट (हानिकारक) हो उसे छोड़े और जो
उत्तम कुलके सेवन करने योग्य उसे भी छोडे, क्योंकि योग्य

विषय से अभिप्राय पूर्वक की हुई विरक्त ही को व्रत संज्ञा प्रति पादन करीहै।

अर्थात्—जो शरीर को हानिकारक अथवा अपने को प्रिय नहीं है उसे तो हम स्वयं ही सेवन नहीं करते इससे इसके त्यागको व्रत नहीं कहते तथा जो गोमूत्र, मद्य, मांस मदिरा कंदमूल, अनछाना जल, रात्रिभोजन आदि अभक्ष्य वस्तु उत्तम कुल वालो को ग्रहण करने योग्य ही नहीं, इससे इनके त्यागको भी व्रत नहीं कहते, किंतु जो उत्तम सज्जन पुरुषों के सेवन करने योग्य जे पंचेंद्रियों के विषय हैं, जिन के सेवन करने में राज व पंचको दंड नहीं, अपने पदस्थके विरुद्ध नहीं और वह हमको प्रियभी है ऐसे योग्य विषयों के त्याग को ही वास्तव में व्रत संज्ञाहै, इस के सिवाय अन्य प्रकार के त्याग को व्रत नहीं कहते।

यम और नियम रूप व्रतका स्वरूप।

भोग और उपभोग के त्यग में नियम और यम एवं दो प्रकार त्यागका विधान किया गयाहै उसमें जो कालकी मर्यादा रूप त्यागहै, वह तो नियम है और जो यावज्जीव त्याग किया जाताहै, वह यमहै।

नियम करने की विधि

जो भोजन, सवारी, शयन, स्थान, पवित्र अंगमें सुगंध पुष्पादि धारण करणा, ताम्बूल, वस्त्र, भूषण, काम-भोग-नृत्यादि सहित संगीत और सामान्य गीत- इत्यादि विषयों में एक घड़ी, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, (दोमास) अयन (छःमास) और वर्ष इस प्रकार कालके विभाग से मर्य्यादा रूप त्याग करना उसे नियम कहतेहैं

भोगोपभोग व्रत के अतीचार ॥

विषय रूपी विषय में आदर करना पूर्वकाल के भोगे हुए विषयों का स्मर्ण रखना वर्त मान के विषयों के भोगने में अत्यंत लालसा रखना भविष्यत में विषयों के प्राप्ति की अतिषय तृष्णा रखना और विषय नहीं भोगते हुए भी विषय भोगताहूं ऐसा अनुभव करना एवं भोगोपभोग परिमाण नामक गुण व्रत के पांच अतीचार, श्रीगणधर देव ने प्रतिपादन किये हैं।

चार शिक्षा व्रतों के नाम।

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, और बैयावृत्य एवं चार शिक्षा बृतहैं अब इनका भिन्न२ स्वरूप वरणन करताहूं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत।

जो दिग्व्रत में परिमाण किये हुए विशाल देशका कालके विभागसे प्रति दिन त्याग करना जैसे प्रथम दिग्व्रत में दक्षिण दिशाका, आसमद्र परिमाण कियाथा उस में से कर्णाठक देश तथा महराष्ट्र देशका तथा उससे भी न्यून नगरादिक का प्रतिदिन प्रमाण करना उसे देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

देशाव काशिक व्रतके कालकी मर्यादा॥

गणाधरादि ज्ञानी पुरुषों ने देशावकाशिक व्रतकी एक वर्ष, छःमास, दोमास, एक मास, पक्ष, और नक्षत्र पर्यंत कालकी मर्यादा वरणन कीहै।

इस देशावकाशिक बृत में भी सीमाओंके परे स्थूल सूक्षम रूप पाचों पापों का भले प्रकार त्याग होनेसे इस व्रतके व्रतीद्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके अतीचार।

मर्य्यादा के बाहर किसी को भेजना, किसी प्रकार का शब्द करना, मर्य्यादा की बाहर से वस्तु मंगाना, अपना रूप दिखाकर समस्या, [इसारा] करना, और कंकर पत्थर आदि फेंकना एवं देशावकाशिक शिक्षा व्रतके पांच अतीचार हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत।

मन वचन और काय, तथा, कृत, कारित और अनमोदना से, मर्यादा और मर्यादाके बाहर भी किसी नियत समय पर्यंत पांचों पापों का त्याग करना, उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहतेहैं।

सामायिक की विधि।

सामायिक के समय चोटी के बालों को बांधना, मूठी, व वस्त्रबांधना पल्यंकासन (पालथी) तथा कायोत्सर्ग धारण करना, तथा अन्तरंग से राग द्वेषादि का त्याग करना,

सामायिक के योग्य स्थान,

सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित अर्थात, शीत, वात, दंश, मसक आदि बाधासे रहित, एकंत जहां स्त्री पुरुष, नपुंशक, बाल वृद्ध जवान और पशु आदिका आवागमन न हो, निर्जनवन, पर्वतकी शिखर तथा गुफा, निजग्रह, धरमशाला, स्मशान भूमि और जिन चैतालय आदि निर्जीव भूमि में प्रसन्न चित्तसे सामायिक करै।

इसके शिवाय कायादि च्येष्टा और मनोव्यग्रता से निवृति होने पर मन के विकल्पों की विशेष निवृति करके प्रतिदिन अथवा उपवास और एकाशनके दिन उपर्युक्त विधि से सामायिक करै।

उपर्युक्त विधिके अनुसार, कियाहुआ सामायिक, पंच महा व्रतों के परिपूर्ण करने का कारण है इस कारण प्रति दिवस आलस्य रहित एकाग्र चित्तसे यथा नियम सामायिक करना योग्य है ॥

इसी सामयिक में आरम्भ सहित सर्व प्रकार के परिग्रहोंके न होने से, उस समय ग्रहस्थ को उपसर्ग पर्वक वस्त्रादिकों सहित भी मुनिपना होजाताहै।

सामायिक करते समय, मौनधारी, अचलयोग से तिष्ठा हुआ श्रावक, शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, दुष्टोंके कुवचन आदि उपसर्गोंगा भी सहन करना योग्य है।

सामायिक करते समय क्या विचार करना चाहिये

मैं ! यद्यपि अकारण, अनित्य, दुःखमयी संसार में वास करताहूं परंतु यह मेरी आत्मासे पृथकहै, किंतु इससे सरवथा प्रतिकूल जो मोक्ष है, वह मेरा निज स्वरूप है उसी में संलग्न होना मेरा परम करत्तव्य करम है ॥

सामायिक के अतीचार।

मन, वचन, और कायकी वृतिको चलायमान करना सामायिक में अनादर करना, और सामायिक का समय और पाठ भूलजाना, एवं सामायिक नामक शिक्षा व्रतके पांच अतीचार हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत।

अष्टमी और चतुदर्शी के दिवस सरबकाल पर्यंत व्रत के विधान की वांछाओंसे चारि प्रकार आहार का त्याग करना तथा धरम ध्यान पूर्वक रहना, उसे प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रोषधोप वास के दिवस क्या २ त्याग करना चाहिये।

चाहिये, उपवास के दिवस-हिंसादि पंच पापोंका- शृङ्गार, आरंभ, गंध, पुष्प, तथा रोगादिक की बृद्धि के कारण गीत नृत्यादि, स्नान, अंजन, नस्य, (सूंघने योग्य वस्तु)का भी त्याग करना योग्यहै ॥

उपवासके दिनका करतव्य

उपवास का धारक निरालसी होकर अतिशय उत्कंठित होता हुवा धर्मरूपी अमृत का पान करै तथा अन्य को करावे अथवा ध्यानाध्ययन में तत्पर है।

प्रोषध औरउपवास का स्वरूप

जो दाल भात आदि असन—घृत दुग्धादि पीने योग्य पान मोदकादि खाद्य और रबड़ी आदि लेह्य ऐवं चार प्रकारके आहार का त्यागकरना सो उपवास है तथा जो एक बार भोजन करसकता है वह एक भुक्ति अर्थात् प्रोषध और जो ब्रत धारनेके दिवस एक बार भोजन पूर्वक उपवास करके पारनाके दिवस एकाशन करता है वह प्रोषधोपवास कहा जाता है।

प्रोषधोपवास के अतीचार

जो बिना देखे शोधे पूजाके उपकर्ण ग्रहण करना मल मूत्रादि त्याग करना, सन्थारा बिछाना, उपवास में अनादर करना, और योग्य क्रियाओं को भूलजाना, एवं प्रोषधोपवास ब्रतके पांच अतीचार हैं।

वैयाब्रत नामक शिक्षाब्रत

जो सम्यक्त्वादि गुणोंके भंडार गृह रहित तपस्वियों को विधि द्रव्यादि सम्पदा कर धर्म के अर्थ प्रत्युपकार

की इच्छा रहित दान करता है वह वैयावृत्य नामक शिक्षा व्रत कहाजाता है।

इसके सिवाय गुणोंमें अनुराग धारणकर गुणाधिक्य तथा संयमी मुनियोंके खेद दूर करनेको पगोंका दाबना आदि सुश्रूषा सेवा कर्म आदि जितने प्रकार का उपकार करना है वह समस्त वैया वृत्यमें गर्भित है।

तथा श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, और सत्व एवं सप्त गुण सहित शुद्ध श्रावक द्वारा कूटने, पीसने, चूल्हा सुलगाने, पानी भरने, और बुहारी देने के आरंभ रहित मुनि आदि श्रेष्ठ पुरुषोंका पड़गाहन, उच्च स्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि एवं, नवधा भक्तिपूर्वक आदर सत्कार करना उसे दान कहते हैं।

दान का फल

जैसे स्वच्छ जल रुधिर आदि को धोकर शुद्ध कर देता है उसी प्रकार अतिथियों [मुनियों] को शुद्धांतःकरण से दियाहुआ दान भी गृह कार्यों से संचित किये हुए पापोंको नष्ट करदेता है।

इसके सिवाय तपस्वी मुनियोंको नमस्कार करने से उच्च गोत्र, दानदेनेसे उत्तम प्रकारके भोग उपासना, करने से प्रतिष्ठा, और भक्ति करनेसे सुन्दर कीर्ति प्राप्ति होतीहै।

कुपात्रको दियाहुवा अल्पभी दान समयांतरमें पृथ्वी में प्राप्त हुए बटके बीजकी भांति छाया फलादि विभव को मन वांछित फलको फलती है अर्थात् जो सुपात्रको अल्पभी दान देनेसे स्वर्गादि लक्ष्मी को प्राप्ति होता है जैसे बटका अल्पभी बीज उत्तम भूमिमें पड़नेसे कितने

बड़े वृक्ष छाया और असंख्य फलोंको फलता है उसी प्रकार सुपात्रकेअर्थ अल्पभी दान वृहत्फलका दाता होता है

दान के भेद

चार ज्ञानके धारक श्रीगणधरादि आचार्योंने आहार औषध, ज्ञान के साधन शास्त्र, और अयभ तथा धर्मशाला आदि एवं चार प्रकार का दान वर्णन किया है।

इसीदानके देने में जे प्रसिद्ध परुए हए उनके नामों को कहते हैं

श्रीषेण राजा और वृषभसेना नामकी सेठकी पुत्री आहार और औषध दान में कोंडेश नामक ग्रामकूट। शास्त्र दानमें और शूकर मुनिकी रक्षा करने अर्थात् अभय दान में प्रसिद्ध हुए हैं इन्होंने उपर्य्युक्त दानके प्रभावसे सुन्दर कीर्ति उत्तम भोग और शुभ गतिकी प्राप्ति कीहै।

वैयावृत्यके भेदमेंही भगवत् की पूजाभी है

इच्छित फलके देनेवाले और कामदेवके बाणों को भस्म करनेवाले देवोंके देव अर्हंत देव के चरणोंकी पूजा करनेसे समस्त दुःखों का नाश होकर मनोभिलाषित कार्य की सिद्धि होती है इस कारण आदर पूर्वक प्रतिदिन श्री अर्हंत भगवान का पूजन करना योग्य है।

वैयावृत्य के अतीचार

दान देने वाली वस्तुको हरित पत्रसे ढकना हरित पत्रमें रखना अनादरसे दानदेना दानकी विधिको भूल जाना और ईर्षा बुद्धिसे दान देना एवं पांच वैयावृत्य नामक शिक्षा बृतके अतीचार हैं।

श्रीमुनि महाराजने कहा कि वत्स! तुझे श्रावकके द्वादश ब्रतोंका स्वरूप सुनाया अब एकादश प्रतिमाओं

का स्वरूप प्रतिपादन करताहूं उसे एकाग्र चित्तसे श्रवण कर ऐसा करनेसे तेरा अपूर्व कल्याण होगा।

श्री मुनि कहने लगे कि अहो राजकुमार! श्रीसर्वज्ञ देव ने श्रावकोंकी एकादश (कक्षा) वर्णन की हैं जिन कक्षाओं (प्रतिमाओं) के धारण करनेसे पूर्व धारण किये गुणों के साथ साथ निज गुणों की वृद्धि होती रहतीहै,

(१) दर्शन प्रतिमा का धारक

जो संसार देह और भोगों से विरक्त होताहुआ, पच्चीस मल दोषों से रहित अतीचार वर्जित जिसका सम्यग्दर्शन हो, तथा सत्यार्थ मार्ग के ग्रहण में तत्पर हो, और मद्यादि निवृत्तिरूप अष्टमूल गुणों का धारक हो वह दारशनिक अर्थात् दरशन प्रतिमा धारी श्रावक होताहै।

(२) व्रत प्रतिमाका धारक॥

जो निःशल्य होता हुआ अतीचार रहित पन्च अणुव्रत तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको धारण करता है वह व्रत प्रतिमा का धारक श्रावक माना जाताहै॥

(३) सामायिक प्रतिमा का धारक॥

जो चार आवर्तों के त्रितय अर्थात् एक २ दिशामें तीन २ आवर्त इस प्रकार चारों दिशाओं प्रति बाराह आवर्त तथा चार प्रमाण पूर्वक कायोत्सर्ग सहित, वाह्याभ्यंतर परिग्रह की चिंता से रहित, गड्गाशन तथा पद्मासन में से किसी एक आशन सहित मन, बचन, कायकी शुद्धता पूर्वक प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायंकाल एवं तीनों संध्याओं में अभिनंदन करता है, वह सामायिक प्रतिमा का धारक श्रावक होताहै॥

(४) प्रोषध प्रतिमाका धारक।

जोएक मास चारो पर्वों अर्थात् दो अष्टमी दो चतुरदशी के दिनोमें अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभ ध्यान में तत्पर होता हुआ आदि अंत में प्रोपध पूर्वक शोलह प्रहर का उपवास धारण करता है वह पूोषध प्रतिमा का धारक श्रावक होताहै ।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमाका धारक ।

जो अपक अर्थात् अग्निका बिनापका, तथा वृक्ष का बिनापका. मूल, फल, शाक, शाखा, गांठ, कंद, पुष्प, और बीजका भक्षण नहीं करना वह दयामूर्त्ति सचित्त त्याग प्रतिमाका धारक श्रावक होताहै ।

(६) रात्री भुक्ति त्याग प्रतिमा का धारक ।

जो जीवों की दयामें तत्पर होता हुआ रात्रि समय चावल, दाल, आदि अन्न, दुग्ध, जलादि पान, मोदकादि खादय और चाटने योग्ग रबड़ी आदि लेह्य एवं चार प्रकार के आहारका त्याग करताहै वह रात्रि भुक्ति त्याग नामक प्रतमिा का धारक श्रावक होताहै ॥

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक ।

जोमलका बीज भूत, मलका उत्पन्न करने वाले, मल प्रवाही, दुरगधियुक्त, और सज्जा जनक अंगको देखकर काम सेवन से सर्वथा विरक्त होजाताहै अरथात् सर्वथा स्त्री मात्र का त्याग करता है वह ब्रम्हचर्य प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारक ॥

जो जीवदयाका पालक! जीव हिंसाके कारण नौकरी,

खेती और वाणिज्य आदि व्यापारों के आरम्भ से विरक्त होताहै वह आरम्भत्यागनामक प्रतिमाकाधारक श्रावकहोताहै।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारक ॥

जो वाह्य दशदश प्रकार के परिग्रह में ममताको छोड़कर निरममत्व में दत्त होताहुआ मायादि रहित संतोष वृति में संलग्न है वह परिग्रह त्याग नामक प्रतिमा का धारक श्रावक होताहै।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा का धरक।

जिस दया निधिकी अनुमति आरम्भ, परिग्रह, और लौकिक कार्यों में समान बुद्धि धारण करता है वह अनुमति त्याग प्रतिमा का धारक श्रावक होताहै।

(११) उत्कृष्ट श्रावक ॥

जो गृहस्थाश्रम का त्यागकर मुनियों की भांति तपोवन में जाकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तपश्चरण करता हुआ भिक्षा भोजन करताहै वह खंड वस्त्र का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाताहै।

इस एकादशमी प्रतिमा के छुल्लक और ऐलक एवं दो भेद है तिनमें छुल्लक तो साढ़े तीन हाथ प्रमाण पिछोड़ी और लगोंटी मात्र परग्रह रखते हैं, और ऐलक केवल लगोंटी ही रखते हैं शेष क्रिया दोनों की समान हैं!

श्रीमुनि राजने और भी कहा कि राज कुमार, इस उत्कष्टश्रावक अर्थात् ऐलक वृति पर्यंत तो श्रावक ही है, इसके उपरोक्त मुनिव्रत होताहै किंतु ये ऐलक और छुल्लक भी श्रीमुनि राजके लघु भ्रातहैं इस व्रत के धारण करने से मुनिव्रत का पालन करना सहज है इसी कारण, इसतुम्हे छुल्लक व्रतके धारने की प्रेरणा करताहूं।

वत्स ! सबसे प्रथम इस बातकाविचार करना चाहिये, कि इस जीव का पाप तो शत्रुहै, और धरम मित्रहै ऐसा विचार करता हुआ, जो शास्त्रको जानताहै, वही श्रेष्ट ज्ञाता, होताहै।

राजकुमार ! जिस महानुभावने, अपने को निर्दोष ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी रत्नों का पिटारा बनाना हो, उसे तीनों जगतों में पति की भांति इच्छा करके धरम, अर्थ, काम, और मोक्ष एवं पुरुपार्थ रूपी वनिता, स्वयं प्राप्त होजातीहै।

प्रिय अभय रुचि कुमार ! हिंसानंद, मृपानंद, चौर्यानंद और परिग्रहानंद एवं चारप्रकार रौद्रध्यान, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन और निदान बंध, एवं चार प्रकार आर्त्तध्यान, इस प्रकार नरक त्रियंच गतिके कारण दोनों ध्यानोंका त्यागकर निरंतर धर्म ध्यान में तत्पर रहना योग्यहै॥

मूल प्राकृत॥

हयवम्मह तावउ कयसमभावऊ दुग्गइ गमन निवारणिउ।
चिंतह अणुपेक्खउ जगगुरुसिक्खउ धम्मरुक्खजल सारणि॥

संस्कृत छाया॥

हतमन्मथतायाः कृतसमभाया दुर्गतिगमन निवारका।
चिंततं अनुप्रेक्षा जगद् गुरु शिक्षा धर्मवृक्ष जलसारिणयः॥

भावार्थ॥

जो काम देवकी नाशने वाली, सम भावकी करने वाली, दुर्गति के गमन से निवारने वाली, जगत गुरु की शिक्षा, और धर्मरूप वृक्षकी वृद्धिके अर्थ जलकी सारिणी समान अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना योग्यहै—

अब इन अनु प्रेक्षाओंका नामनिर्देश करताहूं।

मूल प्राकृत।

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्ण समुइत्तं।
आसव संवरणामा णिज्जर लोयाणु पेहाओ॥
इयजाणिउण भावहु दुल्लहधम्माणु भावणाणिच्चं।
मणवयण कायसुद्धी एदोउद्देसदोः भणिया॥

संस्कृत छाया॥

अध्रुवंअशरणं भणिताःसंसारः एकंअन्यत् अशचित्वम्।
आस्रवः संवर नामा निर्जरालोकानु प्रेक्षा।
इतिज्ञात्वा भावयत् दुर्लभ धर्मानुप्रेक्षा नित्यं।
मनोवचनकाय शुद्धाएताः उद्देशतः भणिताः॥

भावार्थ॥

भो भव्य जीवहो, ये अनुप्रेक्षा! नाममात्र से जिन देव ने कहीं हैं उन को जानकर, मन बचन कायकी शुद्धता पूर्वक, जैसाकि आगे कहेंगे, उस प्रकार उनका चिंतवन करो, वे अध्रुव (अनित्य) १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचित्व ६ आस्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० दुर्लभ ११ और धर्म एवं बारहहैं॥

उपर्युक्त द्वादश भावनाओंका समुच्चय अर्थ इस प्रकार है कि जो अस्थिर है, वह अध्रुव अर्थात् अनित्य–जिसमें शरण नहीं वहअशरण- जोसार रहित और जिसमें भ्रम हो वह संसार-जोसबसे पृथक हो वह अन्यत्व- जोअशुचित्वहै वह अशुचित्व जिस द्वारा कर्म आवे वह आस्रव-जो कर्मों के द्वार को रोके वह संवर–जो उदय अनुदय काल में कर्म क्षय हो वह निर्जरा–जो षट द्रव्य का समुदाय है वह लोक–जो

अति कठिनता से प्राप्त होइ वह दुर्लभ ॥ और जो संसार संसार से उद्धार कर मोक्षस्थान में स्थापन करै वह धरम इस प्रकार सामान्य अर्थ है ॥

अध्रुव (अनित्य) अनुप्रेक्षा ॥

मूल प्राकृत।

जंकिंपिवि उप्पण्णं तस्स विणासो हवे इणियमेण ।
परिणाम सरुवेण वि णाय किंपि वि सासयं अत्थि ॥

संस्कृत छाया ॥

यत्किमपि उत्पन्नं तस्य विनाशो भवति नियमेन ।
परिणामस्वरूपेण अपिनच किं अपि अपि सास्वतंअस्ति ॥

भावार्थ

जो कुछ उत्पन्न हुआहै उसका नियम से नाश होताहै किंतु परिणाम स्वरूप कर कुछभी शास्वता नहीं, अर्थात् समस्त वस्तु सामान्य विशेषात्मकहै, तहां सामान्य तो द्रव्य रूप और विशेष गुण पर्याय स्वरूप है, सो द्रव्य कर वस्तु नित्य है तथा द्रव्ह के आश्रय होने से गुण भी नित्य है, किंतु पर्याय अनित्य है, इसी को परिणाम भी कहते हैं, यह संसारी जीवा पर्य्याय बुद्धी होरही है, सो वे पर्य्याय के उत्पन्न और विनाश होता देख हर्ष विषाद करते हैं तथा उसको नित्य रखना भी चाहते हैं, परंतु इसी अज्ञानता से ब्याकुल होताहै, इस कारण उसे इस अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना उचित्त है ॥

इस प्रकार विचार करना कि द्रब्य कर तो शास्वता आत्म द्रब्य हूं और जो उत्पाद विनाश होताहै, वह पर्य्याय का स्वभाव है इस में हर्ष विषाद क्यों करना, क्योंकि जो यह

शरीर है, वह जीव और पुद्गल जनित पर्य्याय हैं, धन धान्यादि है, वे पुद्गल परमाणुओंके स्कंध पर्य्याय हैं, इनका मिलना बिछुरेना, नियम पूर्वक अवश्य होताहै, इस में जो स्थिर बुद्धि धारण करताहै, सो यही मोह जनित भावहै, इस कारण वस्तु का स्वरूप जानकर हर्ष विषाद रूप नहीं होना।

मूल प्राकृत।

जम्मं मरणेन समं संपज्जइ जुव्वणं जरा सहियं।
लच्छी विनास सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥

संस्कृत छाया।

जन्म मरणेन समं संपद्यते यौवनं जरासहितम्।
लक्ष्मीः विनाश सहिता इति सर्वं भंगुरं जानीत ॥

भावार्थ॥

जो जन्महै वह मरण सहित है यौवनहै वह जरा (वृद्धत्व) सहित उत्पन्न होता है, और जो यह लक्ष्मी है, वह विनाश सहित है, इस प्रकार सर्व वस्तु को भंगुर (विनाश सहित) ही ज्ञात करो।

जगतमें यावत्मात्र अवस्था है, वह समस्त प्रतिपक्षी भाव को लिये हुए हैं परन्तु यह प्राणी, जब जन्म होताहै, तब उसे स्थिर मानिकर हर्ष करता है, जब मरण होता है, तब गया जानकर शोक करता है इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्तिमे विषाद, तथा अनिष्टकी प्राप्ति में विषाद और अप्राप्ति में हर्ष करता है, सो यह समस्त मोह (अज्ञान) का महात्म है, इस कारण ज्ञानी जनों को वस्तु का स्वरूप विचार कर सम भाव रूप रहना ही योग्यहै,।

श्लोक ॥

लावण्य योवन मनोहरणीय ताद्याः ।
कार्य्येष्वमी यदिगुणाश्चिर मावसंति ॥
संतो नत्रातु रमणी रमणीय सारं ।
संसार मेन मवधारयितुं यतंते ॥ १ ॥

यदिचेत, ये लावण्यता, तरुणता, और मनोहरता आदि गुण, इस शरीर में चिरकाल पर्य्यन्त निवास करते तो, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि) इस प्रत्यक्षीभूत, कमनीय कामिनियों कर, मनोहर मध्य युक्त संसार के त्यागने का कदादि उद्यम न करते ।

उत्तम पुरुषों ने जो संसार का त्याग कियाहै, सो इसी हेतसे, कि इस नाशवान संसार में यावत्मात्र वस्तु है वह समस्त विनाशीक है, ऐसा जान कर अहो ज्ञानी जन हो, किसी वस्तु के उत्पाद में हर्ष और विनाश में विषाद कदापि मत करो ।

गज़ल पंजाबी ॥ यह रेखता तथा और अनेक धुनियों में होताहै ॥

तन धन युवन कुटम्ब बिभव अनित्य जानिये ।
राचौ न जगत जीव, सकल अथिर मानिये ॥ टेक ॥

जे भोग इंद्रियन के विनाशीक जानिये, चलल चपल जु छिनक में बिलैगई । मोहित भये स्थिर जानके ये मूढ़ बखायिये, राचोन जगत जीव सकल अथिर मानिये ॥१॥

सुर इंद्र चक्र धर खगेन्द्र संपदा गनो, नाशै है गवन मेंघज्यों करते जतन घनों । स्वामी अनित्य लखि तजी वैराग्य ठानिये, राचोन जगत् जीव सकल अथिर मानिये ॥ २ ॥

जे इष्ट वस्तु पाय मूढ़ नित्य मानते, इक छिनमें विघट जाईगीं

मेला समान ते। इमजानि विरत हूजिये, कर्मन को भानिये। राचो न जगत जीव सकल अथिर मानिये ॥ ३ ॥
यह भावना भावो सदा कल्याण कारिणी। वैराग्यमात भवि नको भव सिंधु तारनी। चिंतो हजारी बार बार मत भुला निये। राचो न जगत जीव सकल अथिर मानिये॥ ४ ॥

इति अनित्यानुप्रेक्षा ॥

अशरण अनुप्रेक्षा ।

मूल प्राकृत

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसये विलओ।
हरिहर वंभादीया कालेण कवलिया जत्थ ॥

संस्कृत छाया ।

तत्र भवे किं शरणं यत्र सुरेंद्राणां दृश्यते विलयः ।
हरिहर ब्रम्हादयः कालेन च कवलिताः यत्र ॥

भाषार्थ ॥

जिस संसार में देवों के इन्द्रोका विनाश देखा जाताहै, जहां ब्रम्हा बिष्णु महेश तथा आदि शब्द से तीर्थंकर चक्र वर्ति आदि पदवी धारक कालके ग्रास बनगए उस संसार में क्या कहीं भी शरण है अरथात्, नहीं है।

भावार्थ ॥

शरण उसे कहते हैं जहां अपनी होसके सो संसार में जिनका शरण विचार किया जाताहै, वेही जब काल के ग्रास बन जाते हैं, तो फिर शरण किसका अरथात् इस संसार में किसी का शरण नहीं। जैसे।

मूल प्राकृत।

सोंहस्स कमे पडिदं सारंगं जहण रक्कदे को वि।
तह मित्तुणाय गहियं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥

संस्कृत छाया ।

सिंहस्य क्रमे पतितं सारंगं यथा न रक्षतेकः अपि ।
तथा मृत्युना च गृहीतं जीवम् अपिन रक्षतेकः अपि ॥

मूलार्थ ॥

जैसे अरण्य में सिंह के पगतल्ले पड़े हुए हिरण को कोई भी राखने वाला नहीं है उसी प्रकार इस संसार में काल कर ग्रसित प्राणी की रक्षा करने में कोई भी समरथ वान नहीं है ।

मूल प्राकृत ।

णरु सोक्ख समीहइ मरणहो वीहइ देवहं सरणु पइसरइ ।
सिज्जहं घरु गच्छइ मन्तुप इच्छइ खयकाल होणउ उपव्वरइ ॥

संस्कृत छाया ।

नरःसौख्यंसमीहति मरणात् बिभेति देवतानांशरणप्रति सरति ।
बैद्यानां गृहं गच्छति मंत्रं प्रपच्छति क्षयकाले न उवरति ॥

मूलार्थ ॥

यह मनुष्य, सुगकी इच्छा करता है और मरण से डरताहै, इसकारण क्षेत्रपालादि देवताओंके शरण को प्राप्त होताहै, बैद्योंके घर जाता है मंत्र यंत्रादि पूछता है, परंतु तोभी क्षय काल से निबृतिं नहीं होता ।

मूल प्राकृत

जइ देवो विय रक्खइ मन्तो तंतो य खेत्त पालो य ।
मियं माणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंतिः ॥

संस्कृत छाया ।

यदि देवाः अपि च रक्षति मंत्रः तंत्रः च क्षेत्र पालः च ।
मृय माणं अपि मनष्यं तत् मनुजाः अक्षया भवंति ॥

मूलार्थ

जो मरण को प्राप्त होते हुए मनुष्य को कोई देव मंत्र, तंत्र, और क्षेत्रपाल, उप लक्षण से, लोक जिसको रक्षक मानते हैं, वे सब ही, रखनेवाले होजाय तो, यह मनुष्य अक्षय होजाइ, अरथात् कोई मरे ही नहीं।

भावार्थ

मूढ़लोक निज जीवितव्य के निमित्त, रागी द्वेसी देव अरथात् पद्मावती क्षेत्रपाल, ऊत, पितर, सती, शीतला, देवी, दुर्गा, भवानी, महादेव, मसानी, सेढू, बूढ़ा बाबू, गूंगापीर सय्यद, ख्वाजापीर, कमालखां, जाहरपीर, नगरे, जखईया, लालगुरु, मलामन, कालूखां, कंठीमाता, दशमांवीवी, नूरी शहजादी, आदि देवताओं की पूजा करते हैं, तथा, अनेक प्रकार के मंत्र, यंत्र, और तंत्र, आदि उपचार करते हैं, इस के शिवाय, और भी अनेक मिथ्यात्व सेवन करते हैं, परंतु वास्तविक विचार कियाजाय तो यही निश्चित होताहै. कि उपर्युक्त देवताओं में कोई भी ऐसा नहीं जो इस जीव को मरण से बचासके, यदि कोई भी किसी को मरण से राखने वाला होता तो संसार में कोई मरता ही नहीं।

इससे यही सिद्ध होताहै कि जो मरण होताहै वह आयुके क्षय होंनेसे होताहै, सो आयुको देनेवाला कोई है नहीं, यदि कोई आयुका दाता होता तो वह स्वयं अपनी आयुवढ़ा लेता सो कोई है नहीं इस कारण, कुदेवादिका पूजन रूप, मिथ्याभाव का त्यागकर, निश्चय तो निजस्वभाव का शरण है और व्यवहार में पंच परमेष्ठी का शरण है, सो इसी को ग्रहण करना उचित है।

भजन तथा अन्य धुनि में भी होता है ।

या जग में जियको शरण मिलो नहीं कोई, जब कृतांत, अजगर मुख वायो देखत निगल गयोई, या जग में जिय० ॥ टेक ॥ जो मृगछाव गृहो हरिने फिर कौन सहायक होई, या जगमें ॥ १ ॥ टेक ॥ इन्द्र धनेंद्र फणेन्द्र बचे नहिं, जब यम गहत सिरोही । या जगमें जिय० ॥ २ ॥ टेक ॥ घरिपरिग्रह वैराग्य धरो चित ध्यावो हजारी वोई । या जगमें जियको शरण मिलो नहीं कोई ॥ ४ ॥ टेक इति ॥

दोहा ॥

वस्तु स्वभाव विचारते, शरण आपको आप ।
व्यवहारे पण परम गुरु, अवर सकल सन्ताप ॥

इति अशरणानुप्रेक्षा संपूरणम्

अथ संसारानुप्रेक्षा ।

मूल प्राकृत ।

एक्कं च यदि सरीरं अण्णं गिरोह दिणववणवं जीवो ।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिराहदि मुंचेदि वहुवारं ।
एकं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स ।
सो संसारो भणदि मिच्छक सायेहिं जुत्तस्स ॥

संस्कृत छाया ।

एकं त्यजति शरीरं अन्यत् गृराहाति नवं नवं जीवः ।
पुनः पुनः अन्यत् अन्यत् गृराहाहि मुंचति वहुवारं ॥
एवं यत् संसरणं नानदेहेषु भवति जीवस्य ।
सः संसारः भणयते मिथ्याकषायैः युक्तस्य ॥

मूलार्थ ।

एकांत वस्तु स्वरूप के श्रद्धान रूप मिथ्यात्व, और

क्रोध, मान, माया, और लोभ एवम् चार कषाय, इन युक्त जीवके जो अनेक देहोंमें संसरण (भ्रमण) होताहै, वही संसार है, सो इस प्रकार कि, एक शरीर को छोड़ अन्य शरीर को ग्रहण करै, पुनः ग्रहणकर उसे भी छोड़े, तथा अन्यको ग्रहण करै, इसी प्रकार बार बार ग्रहण करै, और छोड़े, वही संसार है ॥

इस संसार में, संक्षेप तया चारगति हैं, तथा अनेक प्रकार दुःख हैं, तिनमें प्रथम नरक गतिके दुःखों को दिखाते हैं।

मूलप्राकृत।

पावोदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि वहु दुक्खं।
पंच पयारं विविहं अणोवमं अण दुक्खे हिं ॥

संस्कृत छाया।

पापोदयेन नरके जायते जीवः सहते बहु दुःखं।
पंच प्रकारं विविधं अनोपम्यं अन्यदुःखै ॥

मूलार्थ

यहजीव पाप के उदय से. नरक में पैदा होताहै, वहां अनेक भांति तथा पांच प्रकार के. उपमा रहित दुःखों को सहन करताहै।

भावार्थ।

जो जीवों की हिंसा करता है, मिथ्या भाषण करता है, चोरी में तत्पर है, परस्त्री का सेवन करता है, और बहुत आरम्भ तथा परिग्रह में आशक्त रहता है, तथा बहुक्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी, महा कठोर भाषी, पापी, चुगल, कृपण, देवशास्त्र गुरु का निंदक, अधम, दुर्बुद्धी, कृतघ्नी

शोक और दुःख करने वाला जीव, मर कर नरकों में पड़ता है, वहां छेदन, भेदन, ताडन, मारन और शूलो रोहण एवम् पन्च प्रकार तथा अनेक प्रकार दुःखों को सहताहै।

मूल प्राकृत।

तत्तो णीसरिऊणं जायदि तिरएसु वहुवियप्पेसु।
तत्थविपावदि दुःखं गब्भे वि य छेयणादीयं॥

संस्कृत छाया।

ततः निःसृत्य जायते तिर्यक्षु बहु विकल्पेषु।
तत्र अपि प्राप्नोति दुःखं गर्भे अपि च छेदनादिकं॥

मूलार्थ।

तहां नरकों से निकलकर अनेक भेद रूप तिरयञ्च योनियों में उत्पन्न होता है वहां भी गर्भ में दुःखों को प्राप्त होता है तथा अपि शब्द से सन्मूर्छन होकर छेदनादिक के दुःखों को सहता है॥

भावार्थ।

यह पूर्वोक्त पापकर्मों के योग से नरकों की असह्य वेदना को सहन कर पश्चात् अनेक प्रकार तिर्यंच योनि में उत्पन्न होता है वहां निगोद राशि, स्थावर, काय, तथा तृसपरयाय धारणकर जिह्वा लम्पटी मनुष्य तथा तिरयञ्चों का भक्ष्य बनता है अथवा परस्पर एक दूसरे का भक्षण करता शीत, ऊष्ण, भूंख, प्यास, रोग अतिभारा रोहण वन्ध बन्धन आदि दुःखों को भोगता है॥

मूल प्राकृत।

एवं बहुप्पयारं दुःखं विसहेदि तिरिय जोणीसु।
तत्तोणी सरऊणं लद्धि अपुणो णरो होइ॥

संस्कृत छाया

एवं बहुप्रकारं दुःखं विसहते तिर्यग्योनिषु।
ततः निःसृत्य लब्धि अपूर्णः नरः भवति ॥

मूलार्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार तिर्यंच योनियोंमें यह जीव अनेक प्रकार दुःखों को सहता है पश्चात् वहां से निकलकर लब्ध अपर्याप्त मनुष्य होता है।

मूलप्राकृत

अहगम्मेविय जायदि तत्थवि णिवड़ी कयंग पच्चंगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥

संस्कृत छाया

अथगर्भेअपिचजायते तत्रअपिनिवड़ी कृतानिअङ्गप्रत्यंगाति
विसहतेतीव्रंदुःखं निर्गममानः अपियोनितः ॥

मूलार्थ

तदनन्तर गर्भमें भी उत्पन्न होइ तो वहांभी एकत्र संकुचित हस्त पादादि अङ्ग तथा अंगुली आदि प्रत्यंग होता हुआ दुःखोंको सहन करता है पश्चात् योनिसे निकस तीव्र दुःखों में पड़ता है।

मूलप्राकृत

वालोपि पियरचत्तो परउच्छट्ठेन बड्ढते दुहितो।
एवं जायणसीलो गमेदिकालं महा दुक्खं ॥

संस्कृत छाया

वालः अपि पितृत्यक्तः परोच्छिष्टेन वर्द्धते दुःखितः।
एवं याचनाशीलः गमयति कालं महादुःखम् ॥

भावार्थ

गर्भ से निकल पश्चात् बाल्यावस्था मेंही यदि माता

पिताका मरण होजाय तो अन्य पुरुषोंकी उच्छिष्ट [जूंठन] से वृद्धिगत होता याचनास्वभाव होकर कालव्यतीत करताहै

मूलार्थ

पावेणजणो एसो दुक्कम्मवसेन जायदे सव्वो ।
पुनरवि करेदि पावंणय पुण्णं को त्रि अज्जेदि ॥

संस्कृत छाया

पापेन जनः एषः दुष्कर्मवशेन जायते सर्वः ।
पुनः अपिकरोति पाप न च पुण्यं कः अपिअर्जयति

मूलार्थ

यह जन पापोदय से असाता वेदनीय नीच गोत्र अशुभ नाम और कुत्सित आयु एवं दुष्कर्म के वशते दुःखों को सहता है तौभी पुनः पापही करता है किंतु पूजा दान व्रत तप और ध्यानादि लक्षणयुक्तपुण्य कर्म नहीं करता वह महान् अज्ञान है ।

मूलप्राकृत

विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो ।
उवसमभावे सहियो णिंदणगरहाहि संजुत्तो ॥

संस्कृत छाया

विरलः अर्जयतिपुण्यं सम्यग्दृष्टिव्रतैः संयुक्तः ।
उपसम भावेन सहितः निंदन गर्हाभ्यां संयुक्तः ॥

मूलार्थ

यथार्थ श्रद्धावान् सम्यग्दृष्टी तथा मुनि अथवा श्रावकके व्रतोंकर सहित मंदकषायरूप परिणाम उपशम भाव अपने दोषों में स्वयं पश्चाताप करना निंदना अपने दोषों को गुरु जनके निकट प्रकाशित करना गर्हा एवं पुराण प्रकृति को कोई विरलाही जीव उत्पन्न करता है ।

उ[illegible] के पुण्य कर्मों का भी [illegible] निर्गोत्रादि [illegible] होते हैं

मूलप्राकृत

पुण्णजुदस्सा विदीसइ इठ्ठ विओयं अणिट्ठ संजोयं।
भरहोवि साहिमाणो परिज्जओ लहुय भायेण॥

संस्कृत छाया

पुण्ययुतस्य अपि दृश्यते इष्टवियोगः अनिष्ट संयोगः।
भरतः अपि साभिमानः पराजितः लघुक भ्राता॥

मूलार्थ।

पुण्योदय सहित पुरुष के इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग दृष्टिगत होता है, देखो अभिमान सहित भरतचक्रवर्त्ति भी लघु भ्रात बाहुबली द्वारा पराजित हुए॥

भावार्थ—कोई ऐसा जानता होगा जिनके विशेष पुण्य का उदय होता है वे सर्वप्रकार से सुखी हैं किन्तु उनके किसी प्रकार इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग नहीं होता होगा। सो ऐसा नहीं क्योंकि देखो भरत चक्रवर्त्ति सरीखे उत्तम पुरुष भी जबकि लघु भ्रात बाहुबली द्वारा अपमानित हुए तो अन्य पुरुष की क्या कथा है॥

मूल प्राकृत

सयलठ्ठविसह जोओ बहुपुणस्स विणसव्वदोहोदि।
तंपुणं पिणकस्स विसव्वं जेणच्छिदं लहदि॥

संस्कृत छाया।

सकलार्थ विषय योगः वहु पुणस्य अपि न सर्वत्र भवति।
तत् पुण्यं अपि न कस्य अपि सर्वं येन निश्चितं लभते॥

मूलार्थ

इस संसार में समस्त पदार्थ ही भोग्य वस्तु हैं उनका संयोग बडे पुण्यवानों को सर्वांगरूप से नहीं होता क्योंकि

ऐसा पुण्य तो नहीं जिसकर समस्त मनोभिलसित वस्तु की प्राप्ति हो ॥

भावार्थ-बड़े पुण्यवानों के भी वांछित वस्तुमें किञ्चित न्यूनता रहती ही है अर्थात् सर्व मनोरथ किसी के भी पूर्ण नहीं होते तो सर्व सुखी कैसे होसकता है ॥

समस्त सामिग्री का मिलना अति दुर्लभ है

मूल प्राकृत ॥

कस्स विणत्थ कलत्तं पहव कलत्तं ण पुत्त संपत्तः।
अहतेसि संपत्ती तह विसरोओ हवे देहो ॥

संस्कृत छाया।

कस्य अपि नास्ति कलत्रं अथवा कलत्रं न पुत्रसंप्राप्तिः।
अथतेषां संप्राप्तिः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥

मूलार्थ।

किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं, किसी के यदि स्त्रीभी है तो पुत्त की प्राप्ति नहीं है और किसीके पुत्र की भी प्राप्ति हुई तो शरीर सरोग है ॥

मूल प्राकृत ॥

अहनीरोओ देहो तो धण धणाण णेयसंपत्तिः।
अथ धणधणंहोाद हु तो मरणं झति ढुकेइ ॥

संस्कृत छाया।

अथ नीरोगः देहः तत् धनधान्यानां नैव संप्राप्तिः।
अथ धन धान्यं भवति खलु तत् मरणं झगिति ढौकते।

मूलार्थ

यदि किसी के नीरोग देह भी है तो धन धान्यादिकी प्राप्ति नहीं और यदि धन धान्यादि की भी प्राप्ति होजाय तो शीघ्र ही मरण होजाता है।

मूलप्राकृत

कस्सवि दुट्ठकलित्तं कस्सवि दुव्वसण वसणिओपुत्तो।
कस्सवि अरिसम बन्धू कस्सवि दुहिदावि दुच्चरिया॥

संस्कृत छाया

कस्यअपि दुष्टकलित्रं कस्य अपि दुर्व्यसन व्यसनिकः पुत्रः
कस्यअपि अरिसम वंधु कस्यअपि दुहिता अपिदुश्चरित्रा।

मूलार्थ

इस मनुष्य भव में किसी के स्त्री दुराचारिणी है किसी के धूतादि ब्यसनों में रत पुत्र है किसी के सत्रुसमान बंधु हैं और किसी के दुश्चारिणी पुत्री है।

मूलप्राकृत

कस्स विमरदि सुपुत्तो कस्सवि महिला विणस्सदोइट्ठा।
कस्सवि अग्गि पलित्तं गिहं कुडुवं च डज्झेइ॥

संस्कृत छाया

यस्यअपि म्रियते सुपुत्रः कस्यअपि बनिता विनश्यते इष्टा
कस्य अपि अग्नि प्रलिप्तं गृहं कुटुंवं च दुह्यति॥

मूलार्थ

किसी के तो उत्तम पुत्रमरजाता है किसीकी प्रिय स्त्रीका विनाश होजाता है और किसी का गृह कुटुंब अग्नि में दग्ध होजाता है।

मूल प्राकृत

एवं मणुयगदीए णाणादुक्खाइ विसहमाणोवि।
णविधम्मे कुणादि मई आरंभं णय परिचइ॥

संस्कृत छाया

एवं मनुजगत्यां नाना दुःखानि विसह मानः अपि।
नअपि धर्मे करोति मति आरंभं नैव परित्यजति॥

मूलार्थ

इस प्रकार पूर्वोक्त मनुष्य परियाय में अनेक प्रकार दुःखों को सहन करता हुआ भी जीव धर्म में बुद्धि नहीं करता किंतु पापारंभ करता है।

मूलप्राकृत

सधणोविहोदि णिधणो धणहीणो तहय ईसरो होदि ।
राया विहोदि भिच्चो भिच्चो वियहोदि णरणाहो ॥

मूलार्थ

जो धनवान है वह निर्धन होजाता है इसी प्रकार निर्धन है वह धनवान होजाता है, तथा जो राजा है वह सेवक होजाता और जो सेवक है वह नरनाथ होजाता है॥

॥ मूल प्राकृत ॥

सत्तू विहोदि मित्ता विय जायदे तहा सत्तू ।
कम्म विवायवसादो एसो संसार सब्भावो ॥

संस्कृत छाया।

शत्रुः अपि भवति मित्रं मित्रं अपि च जायते तथा शत्रुः।
कर्मविपाक वशात् एषः संसार सद्भावः ॥

मूलार्थ।

कर्मोदय के वश से जो शत्रु है वह मित्र होजाता है और जो मित्र है वह शत्रु होजाता है यह संसारका स्वभाव ही ऐसा है॥

भावार्थ।

पुण्यकर्म के उदय से शत्रु भी मित्र होजाता है और पापोदय से मित्र भी शत्रु होजाता है, क्योंकि संसार में कर्म ही बलवान है॥

मूल प्राकृत

अह कहवि हवदि देवो तस्स य जायेदि माणसंदुक्खं।
दट्ठूण महद्धीणं देवाणं रिद्धि संपत्ती ॥

संस्कृत छाया।

अथ कथमपि भवति देवः तस्य च जायते मानसं दुःखं।
दृष्ट्वा महर्द्धीनां देवानां ऋद्धि संप्राप्तिं ॥

मूलार्थ ॥

अथवा किसी प्रकार महान कष्ट से देवपर्याय भी पावे तो महर्द्धिक देवों की ऋद्धि संपदा को देखकर मानसिक दुःख उत्पन्न होता है ॥

मूल प्राकृत।

इट्ठ विओगं दुक्खं होदि महद्धीण विसय तण्हादो ।
विसय बसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुतो तित्ती ॥

संस्कृत छाया।

इष्ट वियोगं दुःखं भवति महर्द्धीनां विषय तृष्णातः ।
विषय वशात् सुखं येषां तेषां कुतः तृप्तिः ॥

मूलार्थ

महर्द्धिक देवों के भी ऋद्धि और देवांगनाओं के वियोगरूप इष्ट वियोग से दुःख होता है जिनके विषयों के आधीन सुख है उनको तृप्ति कहां? क्योंकि तृष्णा निरन्तर वृद्धिंगत होती ही है ॥

शारीरक दुःख से मानसिक दुःख प्रबल है ॥

मूलप्राकृत

सारीरीरिय दुक्खादो मानस दुःख हवेइ अइपउरं ।
माणस दुःख जुदस्स हि विसया विदुहावहा हुंति ॥

संस्कृत छाया

शारीरिक दुःखात् मानस दुक्खं भवति अति प्रचुरं ॥
मानसदुःख युतस्य हि विषयाः अपि दुःखावहाः भवंति

मूलार्थ ॥

कोई जानेगा कि शरीर सम्बन्धी दुःख बड़ा है, और मनका दुःख अल्प है परन्तु शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख प्रचुर है क्योंकि मानसिक दुःख सहित पुरुष के अन्य बहुत विषय होते हुए भी दुःखोत्पादक ही दृष्टिगत होते हैं यह सत्यही है. जिस समय किसी भी प्रकार की मानसिक व्यथा होने से समस्त सामिग्री दुःखरूपही ज्ञात होती है ॥

मूल प्राकृत ।

एवं सुट्ठु असारे संसारे संसारे दुःख सायरे घोरे ।
किं कत्थवि अत्थि सुहं वियारमाणं सुनिश्चयतः ॥

संस्कृत छाया ।

एवं सुष्टु असारे संसारे दुःखसागरे घोरे ।
किं कुत्र अपि अस्ति सुखं विचार्यमाणं सुनिश्चयतः ॥

मूलार्थ ॥

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार दुःख सागर घोर और असार संसार में यदि निश्चय पूर्वक विचार किया जाय तो क्या कहीं भी सुख है, अर्थात् कहीं नहीं ॥

भावार्थ ।

चतुर्गतिरूप संसार में चारोंही गतियें दुःखरूप हैं इस कारण संसार में सुख का लेश भी नहीं ।

मूल प्राकृत ।

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण ।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ ॥

संस्कृत छाया ।

इति संसारं ज्ञात्वा मोहं सर्वादरेण त्यक्त्वा ।
तं ध्यायति स्वस्वभावं संसरणं येन नश्यति ॥

मूलार्थ ।

इस प्रकार संसार को ज्ञातकर सर्व भांति पुरुषार्थ कर मोहको त्याग निज आत्मा का ध्यान करो जिससे भ्रमण शील संसार का नाश होजाइ ।

धुनि गौड़की

संसार चतुर्गति दुःख निवास । या महि कदापि नहिं सुख आस ॥ भ्रमबुधिकर राचे तेई डूबे जगमाहीं । संसार चतुर्गति दुःख निवास ॥ टेक ॥ १ ॥ दारुण अति नर्क तनों असर्म तिथि उदधि जु तेतीस आयु कर्म ॥ मारु मारु है सदैव साता रचहूं को नाहीं ॥ संसार चतुर्गति दुख निवास ॥ टेक ॥ २ ॥ इक द्वै त्रय चो पत्र भेद करणा । इक स्वास अठारह जन्म मरणा । सूक्ष्म बादर विकल्प तिर जगमें लहाहीं । संसार चतुर्गति दुख निवास ॥ टेक ॥ ३ ॥ मानुष भवमें बहु कष्ट भोग । इष्ट देवको वियोग अनिष्ट संयोग ॥ जन्म मरण जरा रोगादिक ताई ॥ संसार चतुर्गति दुख निवास ॥ टेक ॥ ४ ॥ मानसीक दुःख देवायुपाइ । पर विभव देख झूरत बनाय ॥ मात भूलोरे हजारी विरकत इकठाही ॥ संसार चतुर्गति दुःख निवास ॥ टेक ॥ ५ ॥

दोहा—पंच परावर्तन मयी, दुःख रूप संसार ।
मिथ्या कर्म उदै यहै, भरमैं जीव अपार ॥

इति संसारानु प्रेक्षा

अथ एकत्वानु प्रेक्षा

मूल प्राकृत

परिवारेणा लच्छिभुंजिज्जइ रक्खिजइ महारणो ।
धावइ सव्वुकोवि णरणाहो होति दुलय सय कारणे ।

संस्कृत छाया

परिवारेणा लक्ष्मी भोज्यते खिद्यते महारणे ।
धावति सवाक अपि भरत नाथः तंदुल कारणे ॥

मूलार्थ

यह जीव अकेलाही रणसंग्राम में खेद खिन्न होता है समस्त लोक एक सेर तंदुलों के अर्थ राजाके आगे दौड़ता है किंतु लक्ष्मीको सर्व परिवार सहित भोगता है ।

मूलप्राकृत

इक्को जीवो जायदि इक्को गब्भम्मि गिह्णदेदेहं ।
इक्को वाल जुवाणो इक्को वुड्ढो जरा गहिओ ॥

संस्कृतछाया

एकः जीवः जायते एकः गर्भे गृह्णाति देहं ।
एकः वालः युवा एकः वृद्धः जराग्रहीतः ॥

मूलार्थ

जो एक जीव उत्पन्न होता है वही एक जीव गर्भ में शरीरको ग्रहण करता है वही एक बालक होता है जवान होताहै और वही एक जीव जराग्रसित वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है अर्थात् एकही जीव अनेक प्रकार पर्यायोंको प्राप्त होता हुआ संसार भ्रमण करता है ।

मूलप्राकृत

इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को मरदि वराओ णरय दुहं सहदि इक्कोवि ॥

संस्कृतछाया

एकः रोगी शोकी एकः तप्पति मानसे दुःखैः।
एकः म्रियते वराकः नरक दुःखं सहति एकः अपि ॥

मूलार्थ

एकही जीव रोगी होता है वही एक शोकवान् होता मानसिक दुखोंसे तप्त होता है वही एक जीव मरताहै और वही एक रंक होताहुआ नरकोंके दुखोंको सहताहै अर्थात् एकही जीव अनेक अवस्थाओं को धारण करता है।

मूलप्राकृत

इक्को संचदि पुरणो इको भुंजेदि विविह सुर सोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं इक्कोविय पावए मोक्खं ॥

संस्कृतछाया

एकः संचिनोति पुरायं एकः भुनाक्ति विविधि सुर सौख्यं।
एकः त्तपति कर्म एकः अपि च प्राप्नोति मोत्तं।

मूलार्थ

एकही जीव पुरायका संचय करता है वही एक जीव देवोंको अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है वही एक जीव कर्मको निरजरा करताहै और वही एक जीव मोत्तको प्राप्त होताहै अर्थात् एकही जीव पुराय का संचयकर स्वर्ग सुखों का अनुभव करता मनुष्य पर्याय धारणकर कर्मों का नाश कर मोत्तको प्राप्त होता है।

मूलप्राकृत

सुपरणो पिछंतो विहुरण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहितुं।
एवं जाणंतो विहुतोवि समत्तं ण छंडेइ ॥

संस्कृतछाया

स्वजनः पश्यन्नपि स्फुटं न दुःखलेशं अपिशक्नोति गृहीतुं
एवं जानन्नपि स्फुटं तदपि ममत्वं न त्यजति ।

मूलार्थ

स्वजन जन भी इस जीव में आते हुए दुःखको देखता हुआ किंचित् मात्र ग्रहण करनेको समर्थ नहीं होते ऐसा प्रगट रूप से जाता हुआ भी कुटुम्बसे ममत्व नहीं छोड़ता

भावार्थ

यह जीव अनेक दुःखको आपही सहन करताहै । किंतु कुटुम्बी जन उस दुःख के बांटने में किंचित्मात्र भी समर्थ नहीं होता ऐसा जानताहुआभी कुटुम्बी जनोंसे स्नेह नहीं छोड़ता उनके अर्थ अनेक प्रकार पापारंभ करताहै निश्चय तः इस जीवका धर्मही स्वजन है ।

मूल प्राकृत

जीवस्स निश्चयादो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो ।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ ॥

संस्कृतछाया

जीवस्य निश्चयतः धर्मः दशलक्षणः भवेत् स्वजनः ।
सः नयति देवलोके सः एव दुःखक्षयं करोति ॥

मूलार्थ

यदि निश्चय विचार किया जाइ तो इस जीवका उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्मही हितू (स्वजन) है क्योंकि यही धर्म जीवको स्वर्गलोक प्रति प्राप्त करता है और यही धर्म समस्त दुःखों का नाश रूप मोक्ष करता है अर्थात् धर्म के सिवाय अन्य कोई भी इस जीव का सहाय नहीं ।

मूलप्राकृत

सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं शरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होइ असेसं खणे हेयं ॥

संस्कृतछाया

सर्वादरेण जानीहि एकं जीवं शरीरतः भिन्नं ।
यस्मिन् तु ज्ञाते जीवे भवति अशेषं क्षणे हेयं ॥

मूलार्थ

अहो भव्य जीवतो तुम इस जीवको शरीरसे सर्व प्रकार भिन्न जानने का उद्यम करो क्योंकि इसके जाननेसे अवशेष सर्व द्रव्य क्षण मात्रमें त्यजने योग्य होजाय हैं अर्थात् जब निज स्वरूप का ज्ञान होजाइगा उस समस्त पर द्रव्य (जो कि आतमा से पृथक् है) वह सर्वथा हेय ज्ञात होने लगेगी इस कारण सबसे प्रथम निजस्वरूप के जानने का प्रयत्न करना चाहिये ।

भजनकी धुनि में

अकिला जग आया, जाहि अकेला यह जीवरा ॥ अकिला जग० ॥ अकिलई भ्रमें चतुर्गति माहीं, संग साथी ना कोई गनो । सुख दुःख सहे सदैव आपही, होय सहाय न लोक घनो । जोई तरुबोवे सोई फल चाखे, कोई नाकाको मीतरा। अकिला जग आया जाहि अकेला जीवरा ॥ १ ॥ टेक ॥ जननी, जनक, बंधु, तिय, सुत धिय कोई नहीं इनमें तेरा । स्वारथ सबो पगे अपने हित तू करता मेरा मेरा । दुःख परेमें कोई काम न आवे भोगे एक सदीवरा । अकिला जग आया जाहि अकेला यह जीवरा ॥टेक॥२॥ अकिलई कर्म बंध को करतो शुद्ध भावसे निर्जरतो । धर्म अर्थ पुरुषारथको

धरि, आगम भवो दधिको तरतो ॥ अकिलई भोगी अकिलई योगी अकिलई होत सुधीवरा अकिला जग आया जाहि अकेला यह जीवरा ॥ टेक ॥३॥ अकिलई जानि तजो जिय ममता, मोह जाल विच काइ परो। बिरकत होइ भावना भावो फेरिन जन मन मरन करो। अविचल धारीहोउ हजारी जिन बच अमृत पीवरा ॥ अकिला जग आया जाहि अकेला यह जीवरा ॥ टेक ॥ ४ ॥

दोहा—एक जीव पर जाय बहु, धारे स्वपर निदान ।
पर तजि आपा जान के करो भव्य कल्यान ॥

इति इकत्वानिप्रेक्षा ४

अन्यत्वानुप्रेक्षा

मूलप्राकृत

अणंदेह गिराहदि जणणी अणाय होदि कम्मादो ।
अणहोदि कलत्तं अणोबिय जायदे पुत्तो ॥

संस्कृतछाया

अन्यः देह गृह्णाति जननी अन्या च भवति कर्मतः ।
अन्यत् भवति कलत्रं अन्यः अपि च जायते पुत्रः ॥

मूलार्थ

यह जीव संसार में जिस शरीरको ग्रहण करता है वह अन्य है माता भी कर्म योग से अन्य है, स्त्री है वह अन्य हैं और प्रगट रूप से पुत्र है वह भी अन्य है ।

मूलप्राकृत

एवं बाहिर दव्वं जाणदि रुवाहु अप्पणोमिणं ।
जाणं तोविहु जीवो तत्थेव य रच्चदे मूढः ॥

संस्कृतछाया

एवंबाह्यद्रव्यं जानाति रूपात् स्फुटं आत्मनः भिन्नं।
जानन् अपि स्फटं जीवः तत्रैव च रज्यति मूढः ॥

मूलार्थ

पूर्वोक्त समस्त बाह्य वस्तुओंको आत्मस्वरूप से यद्यपि भिन्न जानताहै तथापि प्रगट रूपसे जानता हुआभी यह मूर्ख जीव उनही पदार्थों में राग करता है सो यह महा मूर्खता है

मूलप्राकृत

जो जाणिऊण देहं जीवसरूपादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पिय सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥

संस्कृतछाया

यः ज्ञात्वा देहं जीवस्वरूपात् तत्त्वतः भिन्नम्।
आत्मानं अपि च सेवते कार्य करं तस्य अन्यत्त्वम् ॥

मूलार्थ

जो जीव परमार्थ तथा निज स्वरूपसे भिन्न देहको जान कर अपने स्वरूप का ध्यान करता है उसी के यह अन्यत्व भावना कार्यभूत है अर्थात् जो देहादिकपर द्रव्योंको अपनी आत्मा से पृथक् जानकर आत्म ध्यान में निमग्न होजाता है उसीके अन्यत्व भावना सफलीभूत है।

धुनि पीलू

जीवतें लखो पुद्गल जड़, जीव ज्ञान दृग धारी ,। धर्म अधर्म, आकाशकाल द्रव्य, अन्य सकल चेतन तें किलधर। जीव ज्ञान दृगधारी ॥ टेक ॥ १ ॥ फर्श गन्ध रस वर्ण आदि वपु आत्मते हैं अन्य जगत् कर। जीव ज्ञान दृग धारी० ॥ टेक ॥ २ ॥ मोहादिक परवस्तु समिलचिद, तदपि अन्य

जानो सुबुधी नर जीव ज्ञान० ॥ टेक ॥ ३ ॥ जीव द्रव्यते अन्य अचेतन, तजह हजारी भजस्वय अजवर, जीव ज्ञान दृग धारी० ॥ टेक ॥ ४ ॥

दोहा—निज आतम तें भिन्न पर, जने जे नर दत्त ।
निज में रमें बमें अपर, ते शिव लखें प्रत्यत्त ॥

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा

अशुचित्वानुप्रेक्षा

मूलप्राकृत

सयल कुहियाण पिंडं किमि कुलकलियं अउव्वदुग्गंधं ।
मल मुत्ताणं गेहं देहं जाणेह असुइ मयं ॥

संस्कृत छाया

सकल कुथितानां पिंडं क्रिमिकुल कलितं अतीवदुर्गंधं ।
मल मूत्राणां गृहं देहं जानीहि अशुचि मयं ॥

मूलार्थ

भो भव्य ! समस्त निंदनीय वस्तुओंका समूह लट आदि अनेक निगोदादि जीवोंका घर अत्यंत दुर्गंधमय और मल मूत्रादि का स्थान जो यह शरीर है उसे अपवित्रमयही ज्ञात कर शरीर अन्य सुगंधमय वस्तुओं कोभी दुर्गंधमय करता है

मूलप्राकृत

सुट्ठ पवित्तं दव्वं सरस सुगंधं मनोहरं जंपि ।
देह निहित्तं जायदि धिणावणं सुष्ठु दुग्गंधं ॥

संस्कृतछाया

सुष्टु पवित्रं सरस सुगंधं मनोहरं यदपि ।
देह निक्षिप्तं जायते घृणास्पदं सुष्ठु दुर्गंधं ॥

मूलार्थ

इस देह से लगाये हुए उत्तम पवित्र सरस सुगंध और मनोहारी द्रव्य भी घृणास्पद अत्यंत दुर्गंधमय होजाते हैं ।

भावार्थ

चंदन, कर्पूर, कुमकुम और मृगनाभि (कस्तूरी) आदि सुगंधमय वस्तु जब तक शरीर से स्पर्श नहीं करते तबही तक अपवित्र और सुगंधमय हैं और जब शरीर से लग जाते हैं उस समय सर्व अपवित्र होजाते हैं चन्दन कर्पूरादि तो शरीर के स्पर्श से तथा वस्त्राभूषणादि शरीरमें धारन करने से और रसयुक्त भोजन भक्षण करनेसे मलादि रूप परिणव मान होजाते है।

मूलप्राकृत

मणु आणं असुइ मयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तिस्से विरमण कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता॥

संस्कृतछाया

मनुजानां अशुचिमयं विधिनादेहं विनिर्मितं जानीहि।
मेषां निरसण कार्ये ते पुनः तत्र एव अनुरक्ताः॥

मूलार्थ

भो भव्य। इस मनुष्यों के शरीरको जो विधना (कर्म) ने अशुचि (अपवित्र) बनाया है सो ऐसी संभावना कर कि मनुष्यों को वैराग्य उत्पन्न होनेके अर्थ निर्मित कियाहै परन्तु यह मनुष्य। इस देहमें भी अनुरागी होजाता है इस से विशेष और अज्ञान क्या है।

मूलप्राकृत

एवं विहंपि देहं पिच्छंता विष कुणंति अणुरायं।
सेवंतिआयरेण य अलब्ध पुव्वत्ति मणेता॥

संस्कृत छाया

एवं विधं अपि देहं पश्यंतः अपि च कुर्वंति अनुरागं।
सेवंते आदरेण च अलब्ध पूर्वं इति मन्य मानः॥

मूलार्थ

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार अशुचि शरीरको देखता हुआ भी यह मनुष्य अनुराग करता है किन्तु कभी इसे प्राप्त ही नहीं हुआ ऐसा मानता संता आदर पूर्वक शरीरकी सेवा करता है सो यह भी अज्ञान काही महात्म है।

इस देहके विरक्त होनेसे ही अशुचि भावना होतीहै।

मूल प्राकृत।

जो परदेह विरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्प सरूवि सुरत्तो असुइत्त भावणा तस्स॥

संस्कृत छाया।

यः परदेहे विरक्तः निजदेहे नच करोति अनुरागं।
आत्मस्वरूपे सुरक्तः अशुचित्वे भावना तस्य॥

मूलार्थ।

जो पुरुष! स्त्री पुत्रादि परदेह में विरक्त होता हुआ निज शरीर में भी अनुराग नहीं करता उसी महा पुरुष के अशुचि भावना सार्थिक होती है।

भावार्थ।

केवल बिचार मात्रसे ही भावनाकी प्रधानता नहीं होती किन्तु देहको अशुचि बिचारते हुए यदि शरीर से वैराग्य प्रगट हो जाइ तो उसी अशुचि भावना सत्यार्थहै

झंझौटी तथा भजन की धुनि में होता है।

नेह तजो बुध! हेय देहसों अशुचि मलीन महा घिणाकारी। नेह तजो बुध०॥ मलि मलि धोवत सलिल सुगंधन, मंजन, अंजन, चंदन गारी। दशम द्वार हर वार स्रवेमल, छिन्न कोच घट भीति नुनारी। नेह तजो बुध०

॥ टेक १ । चर्म अस्थि रज रुधिर भरी नित पोषत रोकत शोखत न्यारी। होत न मीत संगीत कुटिल तिय नीत तजो परतीत विगाड़ी नेह तजो बुध० ॥ टेक २ ॥ निंद्य जिती दुर्गंध वस्तु जगतावनकी उपजावन हारी। पूरन गलन जरा रोगन रहे केत नदी तट रेत अटारी। नेह तजो० ॥ टेक ३ ॥ मात तात तिय पुत्र मित्र गनि नातें बहुत जनावन हारी। अथिर अनित्य मृत्यु संग डोले ओसकी माल काल तरकारी। नेह तजो० ॥ टेक ४ ॥ जानि विश्वास करो न परोवश राचि रहेते भये संसारी। संत निहार करो परिहार पुकार पुकार कहें जुहारी नेह तजो बुध हेय देह सों अशुचि मलीन महा घिनकारी। नेह तजो० ॥ ५ ॥

दोहा- स्वपर देहकों अशुचि लखि तजै तासु अनुराग।
तांके सांची भावना सो कहिये बड़ भाग ॥

इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥

आस्रवानुप्रेक्षा।

मूल प्राकृत

मण वयण काय जोया जीव पयेसाण फंद णविसेसा
मो हो दएण जुत्ता विजुदा विय आसवा होंति ॥

संस्कृत छाया

मन वचन काय योगाः जीव प्रदेशानां स्पंदन विशेषाः
मो होदयेन युक्ताः वियुताः अपिच आस्रवाः भवंति ॥

मूलार्थः

मन वचन और कायके योग हैं वे ही आस्रव हैं वेयोग! जीव के प्रदेशों का चंचलत्व विशेष हैं तथा मेह के उदय से अर्थात् मिथ्यात्व और कषाय सहित है तथा मोह के उदयसे रहित भी हैं।

भावार्थ

मन बचन और कायका निमित्त पाय जीव के प्रदेशोंका जो चलाचल होना वही योग है, और वही आस्रव है, वे गुण स्थान की परिपाटी में सूक्ष्म सांपराय नामक दशम गुणस्थान पर्यंत तो मोह के उदयरूप यथा संभव मिथ्या त्व और कषाय सहित जो होताहै, वह सांपरायिक आस्रव है, और जो दशम गुणस्थान से ऊपर के संयोग केवली नामक तेरहवें गुण स्थान पर्यंत जो आस्रव होताहै, वह मोहके उदय से रहित है, केवल योग द्वारर ही होताहै, उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं, जे पुद्गल वर्गणा कर्मत्वरूप परिण में उसे द्रव्यास्रव, और जो जीवके प्रदेश चंचल होंय वह भावास्रव है।

मूल प्राकृत

मोहविवागसादो जे परिणामा भवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छात्ताई अयेणविहा॥

संस्कृत छाया

मोहविपाक वशात् ये परिणामा भवन्ति जीवस्य।
ते आस्रवाः मन्यस्व मिथ्यात्वादयः अनेक विधाः॥

मूलार्थ

भोभव्य! तू ऐसा ज्ञात कर कि मोहकर्म के उदय से जीवके जे परिणाम होतेहैं, वेही आस्रव हैं वे परिणाम, मिथ्यात्व आदि अनेक प्रकार हैं।

भावार्थ

कर्मबन्ध के कारण जे आस्रव हैं वे मिथ्यात्व, अविरत प्रमादकषाय और योग एवं पांच प्रकार है उनमें स्थिति

अनुभावारूप बन्धको कारण, मिथ्यात्वादि चारहीहैं, वे मोह कर्म के उदय से होते हैं, और योगहै वे समय मात्र बन्धके कारण हैं किंतु स्थिति और अनुभाव बन्धको कारण नहीं इस कारण बन्धके कारण में प्रधानत्व नहींहै।

मूलप्राकृत

एवं जाणंतो विहु परिचयणीये वि जोण परिहरइ।
तस्सासवाणुपिक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥

संस्कृत छाया

एवं जानन् अपिस्फुटं परित्यजनीयान् अपियःन परिहति।
तस्य आसूवानुप्रेक्षा सर्वा अपि निरर्थका भवति ॥

मूलार्थ

इस प्रकार प्रगट रूपसे जानता हुआ भी जो त्यजने योग्य परिणरमों को नहीं छोड़ता है, उसके समस्त आसूवों का चिंतवन निरर्थक है।

भावार्थ

आसूवानु प्रेक्षा का चिंतवनकर. प्रथम ही तीव्रकषायों को छोड़े पश्चात् शुद्ध आत्म स्वरूपका चिंतवन कर, समस्त कषाय भावोंसे रहित होई, तब यह चिंतवन करना सफलहै केवल वार्ता करनेमात्रसे सार्थक नहीं होता ।

मूल प्राकृत

एदे मोहज भावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयमिदिमण माणो आसव अणुयेहणं तस्स ॥

संस्कृत छाया

एतान् मोहज भावान् यःपरिर्जयति उपशमे लीनः।
हयं इति मन्यमानः आस्रवानुप्रेक्षणं तस्य ॥

मूलार्थ

जो पुरुष उपशम परिणामों) वीतराग भावों) में लीन होताहुआ तथा, इन मिथ्यात्वादि भावोंको हेय अर्थात् त्यागने योग्य जानता हुआ, ये पूर्वोक्त मोह के उदय से हुए मिथ्यात्वादि परिणामों को छोड़ताहै, उसीके आसूवानु प्रेक्षा का चिंतवन होताहै,

धनि सारंग में दादरा

कर्म आवन के हेत आसूव के द्वारारे, कर्म आवन के हेत आसूव के द्वारारे ॥ पंच मिथ्यात्व योग पंद्रह भनि, अविरत गनिये वारारे ॥ कर्म आवन०॥ टेक ॥ १ ॥ जानि कषाय पंच विंशति जे, रलवा में संसारारे । कर्म आवन०॥ ॥ टेक ॥ २ ॥ इन मारग कर्मत्व वगणा. आवें समय अधारारे० ॥ कर्मआवन० ॥ टेक ॥ ३ ॥ तजिये ये सत्तावन परलखि, भजो हजारी सारारे० ॥ कम आवन० ॥ टेक ॥४॥

दोहा ।

आसूव पंच प्रकारकूं चित वै तजै विकार ।
ते पावै निजरूप कूं यहै भावना सार ॥

इति आस्रवानु प्रेक्षा ।

सम्वरानु प्रेक्षा ।

मूलप्राकृत

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कषायाणं ।
एदे संवरणामा जोगा भावो तहच्चेव ॥

संस्कृतछाया ।

सम्यक्त्वं देशव्रतं महाव्रतं तथाजयः कषायाणाम् ।
एते संवर नामानः योगाभावः तथा च एव ॥

मूलार्थ

सम्यक्त्व देशव्रत महाव्रत तथा कषायों का जीतना और योगों का अभाव, ये संबर के नाम हैं।

भावार्थ

पूर्व मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद कषाय और योग एवं पांच प्रकार आस्रवका वर्णन किया था उनका क्रम पूर्वक रोकना वही आस्रवहै अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव भया वहां मिथ्यात्व का संवर भया, तथा देश व्रत गुणस्थान में अविरत का एकोदेश अभाव भया, और प्रमत्त गुणस्थान में सर्वोदेश अभाव भया, वहां अविरतका संवर भया और अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव होने से प्रमादका संवर भया और अयोगीजिन नामक गुणस्थान में समस्त कषायों का अभाव भया, वहां कषाय का संवर हुआ, इस भांति पांच प्रकार के आस्रव का संवर हुआ।

मूलप्राकृत

एदे संवरहेदुं वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सोभमइ चिरं कालं संसारे दुक्ख संतत्तो॥

संस्कृत छाया॥

एतान् संसार हेतून विचायन् अपियः न आचरति।
सःभ्रमते चिरंकालं संसारे दुःख संतप्तः॥

मूलार्थ

जो परुप, पूर्वोक्तप्रकार संबर के कारणों को विचारता हुआ भी उस का आचरण नहीं करता, वह दुःखों से संतप्त होता हुआ चिरकाल पर्यंत संसार में परि भ्रमण करता है।

मूल प्राकृत

जो पुण विषय विरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरई ।
मणहर विषयेहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥

संस्कृत छाया ।

यः पुनः विषय विरक्तः आत्मानं सर्वदा अपि संवृणोति ।
मनोहर विषयेभ्यः तस्य स्फुटं संवर भवति ॥

सूलार्थ

जो मुनि इंद्रियोंके विषयों से विरक्त होता हुआ मनोहर विषयोंसे आत्माको निरंतर संवर रूप करता है उसके निश्चयतया प्रगट रूपसें संवर होता है ।

भावार्थ

मन और इंद्रियों को विषयोंसे रोककर अपने शुद्ध स्वरूप में रमाता है उसी के यथार्थ संवर होता है ।

शांति नमस्ते स्वामी इस धुनिमें

संवर भजो सुज्ञानी संवर भजो० । नहीं कर्म बंधाजी जिहिं ध्यावत सुःख अनंता लाहि समिकत वंताजी संवर भजो सुज्ञानी ॥ टेक १ ॥ त्रय गुप्ति समिति पच धारो, दश, धर्म सम्हारोजी, अनुप्रेक्षा को अनुभवना । निज काज बिचारो जी, संवर भजो सुज्ञानी ॥ टेक २ ॥ छवीस परीसह जीतों, चारित्राहि पालोजी । तातें न परो भव फंदा, हो परम अनंदाजी, संवर भजो सुज्ञानी ॥ टेक ३ ॥ मन इंद्रिय विषय निरोधो नहिं जीव विरोधोजी परिग्रह तजि होउ स्वछंदा, शुभ पूरन चंदाजी । संवर भजो सुज्ञानी ॥ टेक ४ ॥ मन बच तन भावन भावो जीवन हितकारी जी वैराग्य तनी जननी है इमि कहत हजारीजी, संवर भजो सुज्ञानी ॥ टेक ५ ॥

दो० गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीसह कार।
चारित धारै संग तजि, सो मुनि संवर धार॥

इति संवरानु प्रेक्षा

अथ निर्जरानुप्रेक्षा।

मूल प्राकृत

वारसविहेण तपसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग भावनादो निहंकारस्स णाणिस्स॥

संस्कृत छाया

द्वादश विधेन तपसा निदान रहितस्य निर्जरा भवति।
वैराग्य भावनातः निरहंकारस्य ज्ञानिनः॥

मूलार्थ

जो निदान रहित और अहंकार वर्जित ज्ञानीहै उसी के बारह प्रकार तप और वैराग्य भावनासे निर्जरा होतीहै

भावार्थ

जो ज्ञानपूर्वक तपश्चरण करता है उसी के निर्जरा होती है किन्तु अज्ञान सहित विपर्यय तपसे हिंसादि पाप के होने से उलटा कर्मका बंध होताहै तथा जो तप करते हुए अहंकार करता है परको न्यून जाने कोई पूजादि नहीं करै उस से क्रोध करै इससे तो कर्म बंधही होताहै किंतु निहंकार से निर्जरा होती है और जो तपश्चरण करते हुए इस लोक संबंधी तथा परलोकसम्बन्धी ख्याति लाभ पूजा और इंद्रिय जनित विषयोंकी वांछा करता है उसके कर्म को बंध अवश्य होता है किन्तु निदान रहित तपश्चरणसे ही निर्जरा होती है क्योंकि जो संसार देह भोगोंमें आ शक्त होकर तपको तपता है उसका शुद्ध आशय न होने

से निर्जरा नहीं होती किंतु निर्जरा तो वैराग्य भावना से होय है।

निर्जरा का स्वरूप

मूल प्राकृत

सव्वेसिं कम्माणं सत्ति विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतर तु सडणं कम्माणं निज्जरा जाणं॥

संस्कृत छाया

सर्वेषां कर्मणां शक्ति विपाकः भवति अनुभागः।
तदनंतरं तु सटनं कर्मणां निर्जरां जानीहि॥

मूलार्थ

ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों की फल देनेकी सामर्थ्य को जो विपाक वही अनुभागहै सो उदय आनेके अनंतर अर्थात् उदय आने के समय से प्रथम ही उसका त्तरण होय उसे निर्जरा ज्ञात करना।

भावार्थ

कर्म उदय आकर झर जाय अथवा उदय काल विना ही जिसका त्तरन हो जाय उसे निर्जरा कहते हैं।

मूल प्राकृत

सापुण दुविहा णेया सकाल पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढ़मा वयजुत्ताणं हवे विदिया॥

संस्कृत छाया

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया सकाल प्राप्त तपसा कृत माना।
चतुर्ग तिकानां प्रथमा व्रत युक्तानां भवेत् द्वितीया॥

मूलार्थ

वह पूर्व कथित निर्जरा स्वकाल प्राप्त [सवियाक] और अकालमें तपश्चरण द्वारा की हुई अविपाक एवं दो

प्रकार है तिनमें स्वकाल प्राप्त प्रथमा निर्जरा तो चारोंही गतिके जीवोंके होती है और दूसरी अविपाक निर्जरा तप द्वारा व्रतियों केही होती है।

भावार्थ

पूर्वोक्त निर्जरा ! सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार है तहां जो कर्म स्थिति पूर्णकर उदय होय रस देकर खिरै वह सविपाक निर्जरा है यह निर्जरा तो समस्त जीवों के होती है और जो तपश्चरण द्वारा स्थिति पूर्ण हुए बिनाही खिर जाय वह अविपाक निर्जरा है यह व्रत धारी तपस्वियों केही होती है।

मूलप्राकृत

तस्स य सहलो जम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्सवि पुणं वड्ढइ तस्स य सोक्खं परो होदि॥

संस्कृत छाया

तस्य च सफलं जन्म तस्य अपि पापस्य निर्जरा भवति।
तस्य अपिण्यं वर्द्धते तस्य च सौख्यं परं भवति॥

मूलार्थ

जो महा पुरुष ! पूर्वोक्त प्रकार निर्जराके कारणों में प्रवर्त्तमान होता है उसीका जन्म सफल है उसीके पाप कर्मोंकी निर्जरा होती है उसी के पुण्य कर्म का अनुभाग बृद्धिगत होता है और उसीके उत्कृष्टसुखकी प्राप्ति होतीहै

भावार्थ

जो विरक्त चित्त ! निर्जराके कारणों में प्रवर्त्ताहै उसी के पाप का नास होकर पुण्यकी वृद्धि होती है तथा वही भाग सुर्गादिक सुख भोग मोक्ष प्रति गमन करता है।

दादरा नई धुनि

जे कर्म बंध दुखदाई। तिन करहु निर्जरा भाई ॥टेक॥ निर्जरत कर्म तप बलतें। निर्मल समिकत उर धरतें। भव फंद कटैं शिव पाई। तिन करहु निर्जरा भाई। जे कर्मबंध दुख दाई। तिनि० ॥टेक ॥१॥ द्वादश विध तपहि बखानो। सम्यक्त्व भेद द्वै जानों ॥ मन वच तन धारो जाई। तिन करहु निर्जरा भाई ॥ टेक ॥ २ ॥ करि मंद कषाय जु प्रानी। तजिये ममबुद्धि सुज्ञानी। मम इंद्रिय वशहि कराई। तिनि करहु निर्जरा भाई ॥ टेक ॥३॥ जब करण विशुद्ध भयोई। निर्जर असंख्य गुण होई ॥ परणति रागादिक जाई। तिनकरहु निर्जरा भाई ॥ टेक ॥ ४ ॥ हिरदे विच भाव न धारो। परिग्रह चतु बीस निवारो। सुखदेन हजारी गाई ॥ तिन करहु निर्जरा भाई। जे कर्मबंध सुखदाई। तिन करहु निर्जरा भाई ॥ ५ ॥

दोहा—पूरब बांधे कर्म जे, धरै तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय ॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा

अथ लोकानुप्रेक्षा

मूलप्राकृत

सव्वायाससणंतं तस्स य बहु मज्झिसंट्ठियो लोओ।
सोकेण विणयकओ णय धरिओ हरिहरादीहिं ॥

संस्कृतछाया

सर्वाकाशमनंतं तस्य च बहु मध्य संस्थितः लोकः।
सः केन अपि नैव कृतः न च धृतः हरिहराभिः ॥

मूलार्थ

समस्त आकाश द्रव्य का क्षेत्र अनंत प्रदेशी है उसके

वहु यध्य देश में [बीचमें] तिष्ठा हुवा लोक [छः द्रव्य का समुदाय रूप] तिष्ठाहुआ है वह किसीका कियाहुवा नहीं तथा हरि हरादिकों कर धारण किया हुवाभी नहीं है

भावार्थ

अन्य मतावलंबी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि इस लोक की रचना ब्रह्माने कीनी है नारायण रक्षा करते हैं और शिव [महादेव] संहार करते हैं तथा शेषनाग अथवा कच्छवा निज पृष्ठि पर धारण किये हुए हैं और जब इस सृष्टि [लोक] का प्रलय होजाता है तब सर्व शून्य होजाता है किंतु ब्रह्मका सत्तामात्र रहजाती है पश्चात् ब्रह्म की सत्तासे पुनः सृष्टिकी उत्पत्ति होती है इत्यादि कल्पित कथन करते उसका निषेध इस सूत्रसे होता है क्योंकि यह लोक किसी कर किया हुवा किसीकर रक्षित और किसी कर संहारित नहीं होता जैसा है वैसाही अनादि निधन अर्थात् आदि अंतरहित सर्वज्ञ देवने देखा है।

लोकस्वरूप। मूलप्राकृत।

अणोण पवेसेण य दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ।
सव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स विमुणह णिच्चत्तं॥

संस्कृतछाया

अन्योन्य प्रवेशेन च द्रव्याणां अस्तित्वं भवेत् लोकः।
द्रव्याणां नित्यत्वात् लोकस्य अपिजानीहि नित्यत्वम्॥

मूलार्थ

जीवादि षट द्रव्यों के परस्पर एक क्षेत्रावगाह मिलाय रूप जो अवस्थान वह लोकहै और वे द्रव्यहैं वे नित्य हैं, इसी हेतुसे लोक भी नित्यही है ऐसा ज्ञात करना योग्यहै,

भावार्थ

द्रव्यों के समुदायको ही लोक कहते हैं. सो द्रव्यों की नित्यतासे लोक की नित्यता सिद्ध होतीहै।

लोकका आकार विशेष। मूल प्राकृत

सत्तेक्कु पंच इक्का मूले सज्झे तहेव वंभन्ते।
लोयंते रज्जूओ पुव्वा वरदो य वित्थारो॥

संस्कृत छाया

सप्त एक पंच एक-मूले मध्ये तथैव ब्रम्हान्ते।
लोकान्ते रज्जव पूर्वापरतः च विस्तारः॥

मूलार्थ

लोक की पूर्व और पश्चिम दिशामें मूलमें सातराजू विस्तार है, तथा मध्य में एक राजू का विस्तार- ऊपर ब्रम्ह स्वग के अन्त पर्यंत पांच राजू विस्तार और लोकके अन्त में एक राजूका विस्तार है।

भावार्थ

यह लोक नीचेके भाग में पूर्व पश्चिम सातराजू चौड़ा वहां से क्रम पूर्वक घटता हुआ मध्य लोकमें एक राजू चौड़ा पश्चात् ब्रम्ह स्वर्ग पर्यंत बृद्धि होता पांचराज चौड़ा और अन्तमें एक राजू चौड़ा है इस प्रकार डेढ मृदंग खड़ा करने से जो आकार होताहै वही आकार लोकका है।

मूल प्राकृत

दक्खिण उत्तरदो पुण सत्त विरज्जूहवेदि सव्वत्थ।
उढ्ढो चउदश रज्जू सत्त विज्जू घणो लोओ॥

संस्कृत छाया

दक्षिणोत्तरतः पुनः सप्त अपिरज्जवः भवति सर्वत्र।
ऊर्ध्वः चतुर्दशरज्जुः सप्त अपि रज्जुघनः लोकः॥

मूलार्थ

यह लोक उत्तर दक्षिण सर्वत्र सातराजू का विस्तारहै तथा ऊंचा चौदह राजूहै, और समस्त लोक सातराजू घन प्रमाण हैं।

भावार्थ

चौदह राजूकी उंचाई पर्यंत सर्वत्र सातराज के विस्तार में है और घनाकार फैलाने से ३४३ राजू प्रमाण होताहै।

कवित्त छन्द जैजैवन्ती की धुनि में०

लोक स्वरूप लखो सुबुधी शंसय तजि होउ सचेत जुप्रानी।
द्रव्यनिको समुदाय जहां षट् भेद कथंचित् भिन्न बखानी।
पुरुषाकार लसै जुखरो राजू चौदह बिस्तार बखानी।
ऊर्ध अधो अरु मध्य गनों त्रय रूपधरैं तिष्टे निज थानी ॥ १ ॥
नर्क निगोद पाताल विखें तहां क्षेत्र जु राजू सात वखानो, मध्य में द्वीप समुद्र घनें गनिराजू एक तनो परमानों॥ ऊर्ध में स्वर्ग विमान लसै सर्वारथ सिद्धि तनों षट जानों। लोक शिखिर श्रीसिद्ध विराजत नमत हजारी तिन चरणानो ॥२॥

कुण्डलिया

लोकाकार विचार के, सिद्ध स्वरूप चितारि।
राग विरोध विडारिकें, आतम रूप संभारि॥
आतम रूप संवारी मोक्षपुर बसो सदाही।
आधि व्याधि जर मरन आदि दुःख होहै न कदाही॥
श्री गुरु शिक्षा धारि टारि अभिमान कुशोका।
मन थिरकारन यह विचारि निजरूप सुलोका॥ १ ॥

इति लोकानुप्रेक्षा।

अथ बोध दुर्लभानु प्रेक्षा। मूलप्राकृत

जीवो अणंत कालं वसइ निगोएसु आइ परिहीणो।
तत्तो णीसरिऊणं पुढवी कायादि यो होदि॥

संस्कृतछाया

जीवः अन्तकालं वसति निगोदेषु आदि परिहीनः ।
ततः निःसृत्य पृथ्वीकायादिकः भवति ॥

मूलार्थ

यह जीव, अनादि कालसे संसार में अनंतकाल पर्यंत तो निगोद में ही रहा पश्चात् वहां से निकल कर पृथ्वी कायादि पर्यायों को धारण करता है ।

भावार्थ

यहजीव, अनादि कालसे अनन्तकाल पर्यंत तो नित्य निगोद में रहा वहां एक शरीर में अनन्तानन्त जीवों का आहार स्वासोच्छ्वास जीवन मरण समान है एक स्वास के अठारहवें भाग मात्र आयुहै, बहांसे निकल कर यदि कदाचित पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, और वनस्पति पर्याय को पावै सो यह अत्यंत दुर्लभ है ।

त्रसपर्याय की दुर्लभता

मूलप्राकृत

तत्थ वि असंख कालं बायर सुहमेसु कुणइ पणियत्तं
चिंतामणिऽव दुलहं तसत्तणं लहदि कट्ठेण ॥

संस्कृतछाया

तत्रअपि असंख्य कालं वादर सूक्ष्मेसु करोति परवर्तनं ।
चिंतामणिवत् दुर्लभं त्रसत्वं लभते कष्टेन ॥

मूलार्थ ।

तहां पृथ्वी कायादि पर्यायों में वादर तथा सूक्ष्म शरीरों में असंख्यात काल पर्यंत भ्रमण करता है वहां से निसरि त्रसपना पावना अतिकिष्ट कर चिंतामणी रत्नवत् अति दुर्लभ है ।

त्रस पर्याय में भी पंचेन्द्रियपना पावना अति दुर्लभ है।

मूलप्राकृत

वियलिंदिएसु जायदि तत्थवि अत्थेइ पुव्वकोडीओ।
तत्तो णीसरिऊणं कहमपि पंचिंदिओ होदि ॥

संस्कृतछाया

विकलेंद्रियेषु जायते तत्र अपि आस्ते पूर्व कोटयः।
तेभ्यः निःसृत्य कथमपि पंचेंद्रियः भवति ॥

मूलार्थ

स्थावर पर्याय से निकल कर यदि त्रस पर्याय धारण करैं तहां भी विकलत्रय अर्थात् द्वे इंद्रिय ते इंद्रिय और चौ इंद्रिय पावे वहां कोटि पूर्व पर्यंत रहे पश्चात् वहां से निकल पंचेंद्रियपना महा कष्ट कर अति दुर्लभ है।

मूलप्राकृत

सो वि मणेण विहीणो णय अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मणसहिओ होदि हु तह वि तिरक्खो हवे रुद्दो ॥

संस्कृतछाया

सः अपि मनसा विहीनः नच आत्मानं परं अपि जानाति।
अथ मनः सहितः भवति स्फुटं तथा अपि तिर्यक् भवेत् रौद्र।

मूलार्थ

विकलत्रय से निकल यदि पंचेंद्रिय भी होय तो असैनी (मनरहित) होय वहां आपापर का भेद नहीं जानता, और यदि कदाचित् सैनी (मनरहित) पञ्चेंद्रि भी होय तो रौद्र परिणामी घुघू, बिलाव, सर्प, सिंह, मच्छ आदि तिर्यच होय,

क्रूर परिणामी तिर्यंचोंका नरक पात होताहै। मूलप्राकृत।

सो तिव्व असुहलेसो नरये निवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थवि दुक्खं भुंजदि सारीरं मानसं पउरं ॥

संस्कृतछाया

सः तीव्राशुभ लेश्यया नरके निपतति दुःखदे भीमे ।
तत्र अपि दुःखं भुक्ते शारीरं मानसं प्रचुरं ॥

मूलार्थ

वह तीव्र परिणामी तिर्यंच, तीव्र अशुभ लेश्याकर, भयनक और दुःख के देनेवाले नरक में पड़ता है वहां, भी शारीरक और मानसिक एवं दोनों प्रकार प्रचुर दुःख को भोगता है ।

नरक से निकल पुनः तिर्यंच होकर दुःख सहता है । मूलप्राकृत

तत्तो णीसरिऊणं पुणरवि तिरिएखु जायदे पावं ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेय विहं ॥

संस्कृत छाया

ततः निसृत्य पुनरपि तिर्यक् जायते पापम् ।
तत्र अपि दुःखं अनंतं विसहते जीवः अनेक विधं ।

मूलार्थ

उस नरक से निकल कर फिर भी पापरूप तिर्यंच योनिमें उत्पन्न होताहै, वहां भी अनेक प्रकार अनंत दुःखों को यह जीव सहन करता है ।

मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है । मूलप्राकृत ।

रयणं च उप्पहे पिव मणुअत्तं सुट्ठ दुल्लहं लहिय ।
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥

संस्कृतछाया

रत्ने हतुष्पथे इव मनुजत्वं सुष्टुदुर्लभं लब्ध्वा ।
म्लेच्छ भवेत् जीवः तत्र अपि पापम् समर्जयति ॥

मूलार्थ

तिर्यंच योनिसे निकस कर चतुष्पथ में पड़े हुए रत्नकी भांति मनुष्य पर्याय अति दुर्लभ है, परन्तु ऐसे मनुष्य पर्याय में भी म्लेच्छ होकर यह जीव, पापोपार्जन करताहै।

भावार्थ

अति कष्टसे यदि मनुष्य पर्याय भी पाई और वह म्लेछ कुल में उत्पन्न हुआतो मिथ्यादृष्टी अभक्ष्य भक्षीयों की संगति से पापोपार्जन कर पुनः कुगति में पड़कर असंख्य दुःखों का पात्र बनता है।

मनुष्य पर्याय में भी आर्यक्षेत्र और उत्तम कुलकी प्राप्ती अति दुर्लभहै,

मूलप्राकृत

अह लहइ अज्जवंतं तहण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्ताम कुले विपत्ते घणहीणो जायदे जीवो॥

संस्कृतछाया

अथ लभते आर्य्यवत्वं तत्र न अपि प्राप्नोति उत्तमं गोत्रं।
उत्ताम कुले अपि प्राप्ते धनहीनः जायते जीवः॥

मूलार्थ

यदि मनुष्य पर्याय भी पावे और आर्यक्षेत्र में भी जन्म होई- तौभी उत्ताम [ब्राम्हण क्षत्री वैश्य] कुल में जन्म का होना अति दुर्लभ है और यदि उत्तम कुलकी प्राप्ति होजाय तो धनहीन होय वहां किसी भी प्रकार का सुकृत नहीं कर सकेगा, किंतु पापोपार्जन कर पुनः कुयोनियों में भ्रमण करैगा।

मूलप्राकृत

अह धणसहिओ होदि हु इंदि परिपुणदा तदो दुलहा।
अह इंदिय संपुणो तह वि सरोओ हवे देहो॥

संस्कृतछाया

अथधन सहितः भवति स्फुटं इंद्रियपरि पूर्णता ततःदुर्लभा।
अथ इंद्रिय संपूर्णः तथापि सरोगः भवेत् देहः ॥

मूलार्थ

और यदि धन सहित भी होवे तो इन्द्रियों की परि पूर्णता उससे भी दुर्लभ है और यदि इन्द्रियों की भी पूर्णता होजाय तो भी रोग सहित सरीर होय, तहां किसी प्रकार का सुकृत नहीं कर सकेगा।

मूलप्राकृत

अह णीरोओ होदिहु तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं।
अहं चिरकालं जीवदि वो सीलं णेव पावेइ ॥

संस्कृतछाया

अथ नीरोगः भवति स्फुटं तथापि न प्राप्नोति जीतिं सुचिरं।
अथ चिरकालं जीवति तत् शीलं नैव प्राप्नोति ॥

मूलार्थ

अथवा कदाचित् नीरोग भी होय तो चिर जीवित (दीर्घायु) की प्राप्ति दुर्लभ है, और यदि चिरकाल पर्यंत जीवित भी रहै तो उत्तम प्रकृति अर्थात् भद्र परिणामी होना दुर्लभ है।

मूल प्राकृत

अहहोदि सील जुत्तो तह विण पावेइ साहु संसग्गं।
अहतंपि कहाविपावइ सम्मत्तं तह वि अहि दुलहं॥

संस्कृतछाया

अथ भवति शीलयुक्तः तथापि न प्राप्नोति साधु संसर्गं।
अथ तमपिकथं अपिप्राप्नोति सम्यक्त्वं तथाअपिअति दुर्लभं

मूलार्थ

यदि कदाचित् भद्रपरिणामी भी होइ तोभी साधु पुरुषों की संगति पावना दुर्लभ है और यदि साधु संसर्गभी मिल जाय तोभी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्तही दुर्लभ है।

मूलप्राकृत

सम्मत्ते विय लद्धे चारित्तं णेव गिहलादे जीवो।
अह कहवितंपि गिणहदि तो पालेहुंण सक्केदि॥

संस्कृतछाया

सम्यक्त्वेऽपि च लब्धे चारित्रंनैव गृह्णाति जीवः।
अथ कथमपिततअपि गृह्णातितत्पालयितुं न शक्नोति॥

मूलार्थ

यदि सम्यग्दर्शनभी पावे तो यह जीव चारित्रको ग्रहण नहीं करता और यदि कदाचित् चारित्रको ग्रहणभी कर लेइ तो उसे निर्दोष पालने में असमर्थ होता है।

मूलप्राकृत

रयणत्तये विलद्धे तिव्व कसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठरयणत्त ओहोऊ॥

संस्कृतछाया

रत्नत्रयेऽपि लब्धे तीव्र कषायं करोति यदिजीवः।
तत् दुर्गतिषु गच्छति प्रणष्ट रत्नत्रयः भूत्वा॥

मूलार्थ

यदि यह जीव, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय को भी प्राप्त होजावे परन्तु यदि तीव्र कषाय करैतो उस रत्न त्रय को नष्टकर पुनः दुर्गति को गमन करताहै।

मूलप्राकृत

रयणुव्व जलहि पडियं मणुयत्तं तं पि होइ अइदुलहं।
एवं सुणिच्च इत्ता मिच्छकसायेय वज्जेह॥

संस्कृतछाया

रत्नं इव जलधि पतितं मनुजत्वं तत् अपि भवति अतिदुर्लभं।
एवं सुनिश्चयित्वा मिथ्यात्व कषायं त्यजत ॥

मूलार्थ

भो भव्य, समुद्र में पड़े हुए रत्न की भांति यह मनुष्य पना अत्यंत दुर्लभ है, ऐसा निश्चय कर मिथ्यात्व और कषाय का त्याग करो।

भावार्थ

जैसें अति कष्ट से प्राप्तहुआ चिंतामणी रत्न को समुद्र में फेंक देवें, पुनः उस की प्राप्ति होना अति दुर्लभहै उसी भांति पूर्वोक्त प्रकार से प्राप्त हुआ मनुष्य पर्याय तिसपरभी रत्नत्रय को प्राप्त होकर यदि मित्यात्व और कषाय का सेवन करैगा, तो मनुष्य पर्याय अत्यंत दुर्लभ होजाइगा, ऐसा निश्चय ज्ञातकर मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ देवो।

मूल प्राकृत

अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेइ कहवि सम्मत्तं।
सो तव चरणं ण लहदि देशजमं सील लेसंपि ॥

संस्कृत छाया

अथवा देवः भवति स्फुटं तत्र अपि प्राप्नोति कथमपि सम्यक्त्कंच।
तत् तपश्चरणं नलभते देशयमं शीललेशं अपि।

मूलार्थ

अथवा मनुष्य पर्याय से शुभ परिणामो कर यदि देव भी होयतो किसी भी प्रकार सम्मंद्दर्शन की तो प्राप्त होजाइ परन्तु वह तपश्चरण, देशव्रत, शीलव्रत, का लेश भी नपावे।

भावार्थ

देव पर्याय, में चतुर्थ गुणस्थान तक ही होताहै, इस

कारण यदि कदाचित शुभ परिणामों से देवगति भी पावें परन्तु महान कष्ट से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो होजाइ परन्तु सकल चरित्र (मुनिधर्म) और देश चारित्र (श्रावक धर्म) तथा ब्रम्हचर्य की प्राप्ति कदापि नहीं होवे, क्योंकि देवों में पंचम गुणस्थान का अभाव है, और व्रतादि की प्राप्ति पञ्चम गुणस्थान में ही होतीहै, सो देवों के पञ्चम गुणस्थान नहोने से व्रत शीलादि भी उन के नहीं होते ।

मूल प्राकृत

मणुअगईए वित्तओ मणुअगईए महव्वयं सयलं ।
मणुअगईए झाणं मणुअगईए विणिव्वाणं ॥

संस्कृत छाया

मनुजगतौ अपि जपः मनुजगतौ महाव्रतं सकलं ।
मनुजगतौ ध्यानं मनुजगतौ अपि निर्वाणं ॥

मूलार्थ

भो भव्य ! इस मनुष्य गतिही में तपका आचरण, इस मनुष्य गति में ही समस्त महाव्रत, इस मनुष्य गति में ही ध्यान और इस मनुष्य गति में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

मूल प्राकृत

इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊण जे रमंति विसएसु ।
ते लहिय दिव्वरयणं भूइणिमित्तं पजालंति ॥

संस्कृत छाया

इति दुर्लभं मनुजत्वं लब्ध्वा ये रमंति विषयेषु ।
ते लब्ध्वा दिव्यरत्नं भूति निमित्तं प्रज्वालयंति ॥

मूलार्थ

उपरोक्त प्रकार अति दुर्लभ इस मनुष्य पर्याय को प्राप्त होकर जे विषयों में रमण करते हैं वे दिव्य अमूल्य रत्न को प्राप्त होकर भस्म (राख) के निमित्त उसे दग्ध करते हैं।

भावार्थ।

अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य यह मनुष्य पर्याय अमोलि रत्न तुल्य है उसे विषयों के निमित्त वृथा खो देना उचित नहीं है।

मूलप्राकृत

इय सव्व दुलह दुलहं दंसण णाणं तहा चरित्तंच।
मुणि ऊणय संसार महायरं कुणह तिणहं पि॥

संस्कृतछाया

इति सर्व दुर्लभ दुर्लभं दर्शनं ज्ञानं तथा चारित्र च।
ज्ञात्वा च संसारे महादरं कुरुतत्रयाणां अपि॥

मूलार्थ।

ये समस्त उत्तरोत्तर दुर्लभ है तिनमें दर्शन ज्ञान और चारित्र एवं रत्नत्रय अत्यंत ही दुर्लभ है ऐसा ज्ञात कर अहो भव्य! इस संसारमें उपरोक्त तीनों रत्नोंका आदर करो।

भावार्थ

निगोद से निकल कर पूर्वोक्त प्रकार क्रम पूर्वक उत्तरोत्तर दुर्लभहै तहां भी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति अत्यंतही दुर्लभ है इनको प्राप्त होकर जीवों को यत्न पूर्वक आदर करना योग्य है।

दादरा कालंगड़

दुर्लभ अति बोध जगत माहीं है। जगत माहीं रे

हो जगत माहिंरे । दुर्लभ अति बोध जगत माहिंरे ॥टेक॥
इक ते द्वै इंद्री अति दुर्लभ कठिन कठिनकर त्रय पाईरे ।
दुर्लभ अति बोध जगत माहिंरे ॥ टेक १ ॥ चउ तें पंच
इंद्री अति दुर्लभ सेनी हुइवो कठिनाईरे । दुर्लभ अति
बोध जगत माहिंरे ॥ टेक २ ॥ कष्ट कष्ट मानुष हूवो कुल
नीच मिली नहिं जोगांईरे । दुर्लभ अति बोध जगत
माहिंरे ॥ ३ ॥ महा खेद उत्तम कुल पायो असित रोग
तन दुखदाईरे । दुर्लभ अति बोध जगत माहिंरे ॥ ४ ॥
औसर पाय न चूको बुध वृष सेव हजारी सुखदाईरे ।
दुर्लभ अति बोध जगत माहिंरे ॥ ५ ॥

छप्पय ।

वसि निगोदचिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु ।
पवनबोद जल अगिनि गोद लहि जरन मरन सहु ॥
लट गिंडोल उटकन मकोड़ तन भमर भमण कर ।
जल विलोल पशु तन सुकोल नभचर सर उरपर ॥
फिर नरक पात अति कष्ट सहि, कष्ट कष्ट नरतन महत ।
तह पाय रत्न त्रय चिगतजे, ते दुर्लभ अवसर लहत ॥

इति बोध लदुभानुप्रेक्षा

अथ धर्मानुप्रेक्षा प्रारम्यते ॥

धर्म के व्याख्याता सर्वज्ञ देव हैं ।

मूल प्राकृत

जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुण पज्जएहिं संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देओ ॥

संस्कृतछाया

यः जनातिप्रत्यक्षं त्रिकालगुण पर्यायैः संयुक्तं ।
लोकालोकं सकलं सः सर्वज्ञः भवेत् देवः ॥

मूलार्थ

जो समस्त लोक और अलोक एवं त्रिकालगोचर समस्त गुण पर्यायों कर संयुक्त प्रत्यक्ष जानता और देखता है वही सर्वज्ञ देव है ॥

भावार्थ

इसलोकमें जीव द्रव्य अनंतानंत हैं उनसे अनंतानंत गुण पुद्गल द्रव्य हैं एक एक आकाश, धर्म, और अधर्म द्रव्य हैं असंख्यात् कालाणू द्रव्यहैं और लोकसे परे अनंत प्रदेशी आकाश द्रव्य है वह अलोक है एवं समस्त द्रव्यों के अतीत काल अनंत समय रूप तथा आगामीं काल उससेभी अनंत गुणारूप और वर्तमान काल एवं समस्त कालों समय वर्ती एक एक द्रव्य के अनंत अनंत पर्याय हैं तिन सर्व द्रव्य और पर्यायों युगपत् एक समय में प्रत्यक्ष, स्पष्ट पृथक पृथक यथावत् जैसे हैं वैसेही जाने, ऐसा जिसका ज्ञान है वही सर्वज्ञ है, वही देवहै, इन के शिवाय अन्य को सरवज्ञ कहना केवल कथन मात्रही है,

यहां इस कथन का तात्पर्य यह है कि जो धर्म का स्वरूप कहा जाइगा, वह यथार्थ स्वरूप इंद्रिय गोचर नहीं किंतु अतींद्रिय है जिसका फल स्वर्ग और मोक्ष है, वह भी अतींद्रिय है और सर्वज्ञ विना अन्य छद्मस्थों का इंद्रिय जनित ज्ञान परोक्ष है, इस कारण जो अतींद्रिय पदार्थ हैं वह इस के ज्ञान गोचर नहीं, इस कारण जो निज अतींद्रिय ज्ञानद्वारा समस्त चराचर पदार्थों को देखता जानताहै, वह्ी धर्म और धर्म के फलको भी देखे जावेगा। इसी हेतु से धर्म का स्वरूप सर्बज्ञ कथित बचनों द्वारा ही प्रमाण

भूत है किंतु अन्य छद्मस्थ (अल्पज्ञ) कथित प्रमाण भूत नहीं और जो सर्वज्ञ की परंपरासे कहैं, वह भी प्रमाणीकहै, इसी कारण धर्म स्वरूप के कथन की आदि में प्रथम सर्वज्ञ का कथन कियाहै ।

सर्वज्ञ न माननें वालों से किंचित कहते हैं । मूल प्राकृत

जदि ण हव दि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंयिं अत्थं ।
इंद्रियणाणं ण मुणदि थूलं पि असेस पज्जायं ॥

संस्कृत छाया

यदि न भवति सर्वज्ञः तत् कः जानाति अतींद्रियं अर्थं ।
इंद्रिय ज्ञानं न जानाति स्थूलं अपि अशेष पर्यायं ॥

मूलार्थ

यदि सर्वज्ञ न होय तो जोकि इन्द्रिय गोचर नहीं ऐसे अतींद्रिय पदार्थों की कौन जाने, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञानतो स्थूल पदार्थ जोकि इन्द्रियों से सम्बन्ध रूप वर्त मान होता है उसे ही जानताहै, सो भी उसके समस्त पर्यायों को नहीं जान सकता ।

भावार्थ

मीमांसक और नास्तिक एवं दोनों मतानुयायी । सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, उनका निषेध इस सूत्र से हुआ और यह तो स्पष्टहीहै कि सर्वज्ञ विना जे अतींद्रिय पदार्थ हैं उन्हे कौन जान सकताहै इसी प्रकार धर्म और अधर्म का फल भी अतींद्रियहै, उसे इन्द्रिय ज्ञानवाला छद्मस्थ कैसे जानेगा, इस कारण प्रथम सर्वज्ञ को मानकर उनके बचनों के द्वारा धर्म के स्वरूप का निश्चय करो ।

धर्मका सामान्य स्वरूप

श्लोक–आद्या जीवदया गृहस्थ समिनो भेदा द्विधा च त्रयं ।
रत्नानां परमं तथा दशविधो त्कृष्टक्षमादि स्तथा ॥
मोहोधूत विकल्प जाल रहिता वाग्गंग संगोज्भितः ।
शुद्धानंद मयात्मनः परणतिर्ध माख्यया जायते ॥१॥

श्री पद्मनंद्याचार्य

मूलार्थ

सामान्य प्रकार से धर्म दो प्रकार है एक व्यवहार और दूसरा, निश्चय । तिनमें व्यवहार धर्म में प्रथम जीवदया धर्म है, वही दयागत धर्म गृहस्थ और मुनियों के भेदसे दो प्रकार है अर्थात् गृहस्थ धर्म में एकोदेश दयाका पालन होताहै और मुनि धर्म में सर्वोदेश दयाका प्रतिपाल होताहै तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एवं रत्नत्रय रूप तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रम्हचर्य एवं दश प्रकार धर्म हैं यह समस्त व्यवहार धर्म हैं और जो मोहसे उत्पन्न हुए विकल्पों के समूहोंसे रहित, बचन और अंगसे वर्जित ऐसी शुद्ध आनंद मय आत्मा की परणति ! वह निश्चय धर्म है ।

मूलप्राकृत

हिंसारं भोण सुहो देवणि मित्तं गुरूण कज्जेसु ।
हिंसा पावन्ति मदो दयापहाणो जदो धम्मो ॥

संस्कृत छाया

हिंसारंभः न शुभः देवनिमित्तं गुरूणां कार्येषु ।
हिंसा पापं इति मतः दया प्रधानः यतः धर्मः ॥

मूलार्थ

देव के निमित्त, तथा गुरुओं के कार्यों में जो हिंसा का आरम्भ है वह शुभ नहीं हैं क्योंकि जो हिंसा है वही पाप माना है. इस कारण दया प्रधान ही धर्म है।

भावार्थ

अन्य मतावलम्वी- हिंसामें धर्मका स्थापन करते हैं तिन में मीमांसक तो यज्ञ में पशुओंका हवन करते हुए उसका शुभफल कहते हैं बौद्धमतानुयायी- हिंसाकर मांस आदिके आहार को भी शुभही कहते हैं-तथा देवीके भैरोंके उपासक बकरा आदि पशुओंका नाशकर, देवी और भैरोंको चढाते हैं, और उसका फल भी शुभ ही बतलाते हैं और स्वेतांबरोंके अनेक सूत्रों में ऐसा प्रति पादन कियाहै कि जो देव शास्त्र गुरु के निमित्त चक्रवर्ति की सेनाका भी चूर्ण करना-और जो साधु ऐसा न करैं तो अनंतसंसारी होइ। कहीं कहीं मद्य मांस का आहार भी लिखागया है इत्यादि सबोंका- निषेध इस गाथा से होताहै।

जो देव गुरुशास्त्र के निमित्त हिंसाका आरम्भ करता है वह शुभनहीं है क्योंकि धर्म है वह दया प्रधान ही है इसके शिवाय ऐसा भी जानना कि जो पूजा, प्रतिष्ठा, जिनालय का बनाना संघ, यात्रा, धर्मशाला बनाना, इत्यादि समस्त कार्य गृहस्थों के हैं उनको मुनिराज- न तो आप करैं, और न दूसरे से करावें, और न उसको अनुमोदना करैं क्योंकि यह कार्य गृहस्थोंका है. सो जैसा शास्त्रों में इनका विधान बतलाया है, उसी प्रकार गृहस्थ करैं और यदि गृहवासीजन श्री मुनिराज से इनके विषय में प्रश्न करैं तो श्री मुनिराजभी

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उनको उपरोक्त कार्यों के करने रूप उतर देवें ऐसा करने में उस कार्य सम्बन्धी हिंसा दोष तो गृहस्थों ही को लगता है किंतु उपरोक्त कार्यों में जो जो श्रद्धान भक्ति और धर्म की प्रधानता होय उस सम्बधी जो पुण्य उत्पन्न होगा, उसके भागी मुनिराज भी होंगे- क्योंकि हिंसा, गृहस्थों की है इस कारण हिंसा सम्बन्धी दोष गृहस्थों पर ही है, किंतु मुनिपर नहीं, और गृहस्थ भी यदि सिंहारूप अभिप्राय करें तो वह अशुभ ही है यद्यपि पूजा प्रतिष्ठा आदिको यत्न पूर्वक करैं तौ भी उस कार्य में जो हिंसादि हो वह टल नहीं सकती, जैन सिद्धांत में भी यह वाक्य कहाहै कि "सावद्यलेशो वहु पुन्यराशिः" जिसमें पाप अल्प होइ और पुण्य विशेष होय वह कार्य गृहस्थों को करना योग्यहै सो गृहस्थ भी जिसमे लाभ विशेष होइ और नुकशान अल्प होइ, ऐसा कार्य अवश्य करैं, किंतु यह रीति मुनियों की नहीं इसी हेत से मुनिराज, हिंसा के फल से रहित है ॥

मूलप्राकृत

देव गुरूण निमित्तं हिंसारम्भो विहोदि जदिधम्मो ।
हिंसा रहिओ धम्मो इदि जिण वयण हवे आलियं ॥

संस्कृतछाया

देव गुरुवोः निमित्तं हिंसारम्भः अपि भवति यदि धर्मः ।
हिंसारहितः धर्मः इति जिन वचनं भवेत् अलीकं ॥

मूलार्थ

देव और गुरुओंके निमित्त हिंसाका आरम्भही यदि

धर्म मानाजावे तो हिंसा रहित धर्म जो भगवानने वर्णन किया है वह मिथ्या होजाइगा।

जै जै वन्तीकी पुरानी धुनि

ऐसो दयारूपी जिन धर्म जीव उद्धार करायो है। मेरे मन भायो है, सो मेरे मन भायो है ॥टेक॥ श्रावक मुनीश जानो द्रग बोध चरन मानो। जिनदेव सर्वज्ञ दरसायोहै सुमेरे मन भायो है ॥ टेक ॥ १ ॥ उत्तम क्षमादि धारो। दश अंगको समारो। आगम अनुसार बतायो है ॥ मेरे मनभायो है ॥ टेक ॥ २ ॥ इह भावनाको ध्यावे। पंचम गती को पावे। तिन शीस हजारी नायो है। सुमेरे मन भायो है ३ ॥

दोहा—धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वान।
धर्मपंथ साधन विना, नर तिर्यंच समान ॥

इतिधर्मानुप्रेक्षा

श्रीअभयरुचिकुमार नामक क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से कहने लगे कि राजन् श्रीदुत्ताचार्य ने उपर्युक्त द्वादश अनुप्रेक्षाओंका वर्णन कर फिर मुझसे कहा कि हे वत्स! मैने जैसा आचरण बतलाया तू उसीप्रकार कर अर्थात् तू क्षुल्लक वृत्ति धारण कर क्योंकि मुनिव्रतके धारने को तू असमर्थ होजाइगा।

राजन्! मारिदत्त उस समय श्रीआचार्यकी आज्ञाप्रमाण संसार समुद्रके पार करनेके जहाज तुल्य क्षुल्लक व्रत अंगीकार किया अर्थात् अन्य समस्त वस्त्राभरणों का त्यागकर एक शुभ्र वस्त्र [पिछोड़ी] और लंगोटी मात्रका ग्रहण किया तथा मस्तक के केशों को दूरकर पीछी और कमंडल को धारण किया तत्पश्चात्।

मूलप्राकृत

जाइउ संजइठाउ णिज्जियमइए उ राणियाउ जसवइपियउ ।
कयसुरणर सेवें गुरुणादेवें पुरकंतियहिं समप्पियउ ॥

संस्कृत छाया

जातः संयतः निर्जितोमदः पुनः राज्ञीयशोमतिः पितरो ।
कृतसुर नरसे वेन गुरुणा देवेन अग्ने गणिन्याः समर्पितः

मूलार्थ

मद को विजयकर महाराज यशोमति और रानी कुसुमावली मुनि और अर्यिका के व्रत ग्रहण करते भये पश्चात् सुर और मनुष्यों कर सेवनीक श्री गुरुदेव सुदत्ताचार्य ने रानी कुसुमावली को गणिनी (आर्यिका) के निकट स्थापन किया ।

संस्कृत टीका अर्थ

वे श्री सुदत्ताचार्यगुरु ! जिन्होंने भगवान् सर्वज्ञ देव कथित तपश्चरण के करने पूर्णतया मन स्थापन किया, तथा जिन्होंने कामदेव रूप मृत्यु का नाश किया वे गुरुवर्य्य ! निज ध्यान में ऐसे तल्लीन हुए कि ध्यानस्थ समय जिनके प्रस्वेद (पसीना) को निज जिह्वासे सर्पगण, चाटते हैं वे मुनिनायक तपस्या के योग से ऐसे कृश शरीर हैं कि जिनकी अस्थिसंधि स्वयमेव कटकटादि शब्द करते हैं जिनके उत्तम तेज मूर्ति शरीर में समस्त पसूलीं और नशी जाल दृष्टिगत होता है, वे तपोनिधि । तपश्चरण करते जगत के जीवों को अभय प्रदान करते हैं ।

नृपवर ! वे दिगंबराचार्य शीतकाल में स्नेह (मोह) अथवा तैल) वर्जित किंतु पाले (वर्फ़) के पटलों कर

आच्छादित गात्र होते हुए रात्रि समय सरिता तट किंवा सरोवर के तट प्रति स्थानस्थ होते हैं।

वे दया प्रति पालक मुनिपुंगव। ग्रीष्म कालमें पर्वत्तों की शिखर तथा मरु भूमि में जहां छायाके नाम एक पक्षीभी ऊपर होकर नहीं निकलता किंतु नीचे तो पाषाण की उष्णता, और ऊपर तेज पूर्ण दिवानाथ की उष्णता, तिस परभी धूलिके पटलों से पूर्ण विकराल पवन गात्रको दग्ध करती थी ऐसे समय में वे गुरुवर्य निज आत्मा के ध्यान में तल्लीन होते हैं कि जिनको किंचित भी कष्ट नहीं होता,

वे गुणनिधि! वर्षा कालमें जहां सर्व आडंबर युक्त मेघराज। समस्त धारातल पर अपना राज्य स्थापन करता है अर्थात् एक तरफ मेघ गर्जना करताहै कहीं बिजुली चमकती है तिसपर झंझावात अपना प्रवल कोप दिखारही है उस समय वे मुनिराज वृक्ष के नीचे निज ध्यान में मग्न होते हैं।

वे समदर्शी महामुनि! स्पर्श इंद्री के आठ प्रकार के विषय में सम भाव धारण करतेथे स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को प्रगट दिखाते, माया मिथ्या और निदान एवं तीनों शल्यों का निराकरण करते, निज ज्ञान रूप अंकुशसे अष्ट मद रूप मदोन्मत गजराज को निर्मद करते, किंतु मान और अपमान में समभाव धारण करते, शरीर से निस्पृह होते ध्यान में तल्लीन होते हैं।

वे दयाके भंडार! वृक्षों की कोटरा, पर्वतों की कंदरा और स्मशान भूमिमें निवाश करते रात्री समय धनुष, दंड मृतक और शय्या एवं कठिन आशनों मे किंचित निद्रा

लेकर रात्री व्यतीत करते हैं, तथा दिवश में भी गोदुहासन बज्रासन, षद्मासन. वीरासन, गज सुंडासन आदि अनेक आसनों से ध्यान में लीन होते हैं।

वे महामुनि ! पक्ष मासादि उपवास धारण करते. दीर्घ रोमावली सहित अस्थि पंजर पूर्णगात्र, निजमन वचन और कायको बशमें लाकर आत्मा के ध्यान में ध्यानस्थ होते, तथा प्रस्वेद और रजादिकर लिप्त शरीर धारण करते मेदिनी (पृथ्वी) वत् क्षमावान् सुमेर समान धीर, आर्त्त, रौद्र एवं दोनों कुध्यानों कर रहित, ममत्व वर्जित, हमारे गुरु श्री सुदत्ताचार्य, प्रमाद रहित जीवों की दया युक्त पृथ्वी पर भ्रमण करते यहां इस नगर के उद्यानमें आए हुए हैं, और उन ही यति पति के संग हम भी आये हैं, सो श्री गुरुकी आज्ञा प्रमाण गुरू के चरण कमलों की बन्दना कर भिक्षाके अर्थ निकले हुए हैं।

मूलप्राकृत

ताचरंतइं जिण सुमरं तइं किंकरेहिं संदाप यइ।
वेणिविसुहचरियइंकरियलिधरियइएउदेविघरुआणियइं।

संस्कृतछाया

तपः चरितौ जिनं स्मरतः किंकर रुद्धौ संगृहीतौ।
द्वौ अपि शुभा चरितौ करतले धृत्वा देवी गृहं आनतौ॥

मूलार्थ।

तपश्चरण करते तथा जिन भगवान् का स्मरण करते मार्ग में गमन करते हम दोनों (भाई-बहिन) को शुभाचरण के धारकों को किंकरोंने हाथमें पकड़ कर यहां देवी गृहमें प्राप्त किये।

संस्कृत टीका अर्थ

अभय रुचि कुमार क्षुल्लक महाराज मारिदत्त नृपति से और भी कहने लगे। कि राजेंद्र! आपके किंकरोंने हम दोनों को यहां लायकर आपके सन्मुख उपस्थित किया तत्पश्चात् जब आपने हमारा चरित्र पूछातो हमने अपने कृत कर्म द्वारा संसार का परिभ्रमण रूप समस्त वृतांत आपके कर्ण गोचर किया, अब आपको जैसा रूचे वह कीजिये। ग्रंथकर्त्ता कहते हैं कि उपरोक्त क्षुलक महाराज का समस्त जीवन चरित्र ज्ञात कर मारिदत्त नृप और चन्डीका देवी एवं दोनों ही संसार से उदास चित्त होते संसार से विरक्त होकर प्रथम जो समस्त पशु युगलोंको ताप देनेका जो कार्य प्रारम्भ किया था उसका निषेध कर धर्म में तत्पर होते भये, उस समय वे दोनों ही प्रतिबोध को प्राप्त होकर निज हृदय में चिंतवन करने लगे कि इस लोकमें पवित्र और प्रधान बालक युगल यथार्थ में पूजनीक हैं- किंतु मस्तको परि तिष्टते चूडामणि रत्न की भांति वन्दनीय हैं।

इस प्रकार चिंतवनकर मारिदत्त नृपति चन्डिका देवी और उसके उपासक भैरवानन्द ने वसाघृतकर आद्रित रसवान् मांस- दिगंत व्याप्त रुधिर तथा अस्थि मांस नसा जाल से व्याप्त किंतु मस्तक रहित कवन्ध और उसकी समस्त सामिग्री मद्यपात्र आदि जोकि [चन्डीका ग्रह में वलि प्रदान के अर्थ उपस्थित कीगईथी] पृथ्वीतल में क्षेपण कर उस कर्तव्य से विमुक्त हुए।

पश्चात् राजाने कर्म चारियों को बुलाकर कहा--

नृपती—हे कर्मचारिन् ! तुम शीघ्र जाकर, उपवन को शुशोभित करो—

कर्मचारीगण—(हातजोड़ कर) जो आज्ञा महाराज की, अभी शीघ्र जाकर उपवन को शृंगारित करते हैं ॥

इस प्रकार महाराज की आज्ञा शिरोधारण कर समस्त कर्मचारियों ने शीघ्र जाकर, वृक्ष लता फल पुष्पादि कर मनोहर बन कि जिसमें रक्त पत्तों कर युक्त आम्रकी शाखा में अनेक पक्षिगण अपनी मनोहर ध्वनि करते अत्यंत रमणीक दृष्टिगत होतेथे, कहीं खजूरताल और तमाल आदिके वृक्ष, आकाश से वार्त्ता करते थे, कहीं जल निमानों में क्रीड़ा करते, हंस तथा चक्रवाक (चकवा) युगल अत्यंत रमणीक दृष्टिगत होते थे किसी स्थल में लता मंडफो में तिष्टती कमनीय कामनीं समूह निज मधुर स्वर से गान करतीं पथिक जनों के मनको मोहित करते थे किसी प्रदेश में सरोवरों में प्रफुल्लित कमलों पर गुंजार करते भ्रमरों के यूथ, अपनी मदोन्मत्तता प्रगट करते थे, कहीं २ महलों की पंक्ति शुभ्ररूप धारण किये अपनी उज्वलता और उच्चता प्रगट करते थे उसी निर्मल वनमें कर्मचारियोंने मुक्ताफलों की जाली तथा रेशमी वस्त्रों मंडफ और रत्न विनिमित चंदोवा आदिसे ऐसा शुशोभित किया मानो दूसरा स्वर्ग विमान ही स्वर्ग की लक्ष्मी को छोड़कर पृथ्वीतर पर आयाहै ।

इत्यादि बनको सुशोभित कर महाराज के निकट जाकर निवेदन किया ।

कर्मचारी—(उच्चस्वर से) श्री महाराज की जय हो आपकी आज्ञानुसार समस्त बन सुशोभा युक्त होगया ।

इस प्रकार कर्मचारियोंकी वार्त्ताको श्रवणकर चण्डिका देवी जोकि प्रछन्न रूप से तिष्ठी हुई थी प्रकट होकर महाराज मारिदत्त से कहने लगी।

चण्डिका—राजन्! यद्यपि आपके कर्मचारियों ने उपवन को श्रृंगारित किया है तथापि मैं श्री क्षुल्लक महाराज के विनाश योग्य उसे तपोवन बनाऊंगी।

महाराज-मातु श्री! जो आपकी अभिलाषा हो वही कीजिये॥

इस प्रकार नृपति की सम्मति पाकर चंडिका देवी ने अपनी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिप्राकाम्य ईशत्व और वशित्व एवं अष्टगुणों द्वारा उस वनको और भी श्रृंगारित किया पश्चात् श्रीअभयरुचिकुमार क्षुल्लक और अभयमती क्षुल्ली तथा राजा मारिदत्त और भैरवानन्द को साथ लेकर महोत्सव पूर्वक तपोवन में लेजाकर उपस्थित किया तदनन्तर देवोपुनीत सिंहासन पर क्षुल्लक युगलको विराजमान कर आप प्रकट होकर श्रीक्षुल्लक महाराज के सम्मुख उपस्थित होगई॥

वह चण्डमारी देवी जो किंचित काल पूर्व अस्थि, मांस, रुधिर, वसा आदि से सर्वांग व्याप्त थी, मनुष्यों के रुंडो की माला कंठ में धारण किये महाभयावनी मूर्त्ति थी सो श्री क्षुल्लक महाराज के उपदेश को श्रवण कर अपनी असली सूरत में आकर समस्त हिंसादिकर्म का त्यागकर शौम्यवदन होगई॥

वह चंडमारी देवी महावात्सल्यांग धारिणी, प्रशन्न वदना, सुवर्ण का पात्र निजकरकमल में धारणकिये सौम्य

भावयुक्त, अपने चरणों के अंततक कटि मेखलालटकाती, असदृशलावण्य और सौभाग्य करि सार भूत लंबमान हारावली के तेजकर मनोहरा, उच्छलती स्वच्छजल पूर्ण भृंगार (झाड़ी) कर शोभमान करकमला, जिस के पगनूपुरों की ध्वनि को श्रवणकर मयूरगण नृत्य करते और उत्तम शब्द करते थे ॥

वहमनोहरा, देवता निज पीनोन्नतकुच, क्षीणकटि, कृश उदर, आदि सर्वांग सुन्दर, देवोपुनीत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित जैनमार्ग (दयाधर्म) में लीन होती हिंसा धर्मको जलांजुली देती। किन्तु पूर्व समय में एकत्रित किएहुए जीवों के युगलों पर दयापूर्वक वात्सल्य धारण करती श्री क्षुल्लक महाराज के सन्मुख उपस्थित हुई। पश्चात्—

मूल प्राकृत।

खुट्टिय गुरुपायहं णह सुच्छायहं णियसीसत्तु समिच्छयउ।
जल कमल करं विउ महपरचुंविउ अग्घवत्तुपल्हत्थियउ॥

संस्कृत छाया।

पतित्वा गुरुपादयोः नखसुच्छाययोः निज शिष्यत्वं समर्थितम्।
जल कमल करं वितं मधुकर चुंवितं अर्घपात्रं ढौकितम् ॥

मूलार्थ

वह चण्डमारी देवी नखोंकी सुन्दर क्रांतियुक्त गुरुके चरणों में पड़कर अपना शिष्यत्व समर्थन करनेलगी पश्चात् जल और कमलयुक्त तथा भ्रमरोंकर चुंवित अर्घपात्रकर गुरुके चरणों को नमस्कार करने लगी।

संस्कृत टीकार्थ

स्वामिन् ! आप केवल कृत्रिम कुर्कुटके मारनेसे सघन

भव वनमें भ्रमें मैने असंख्य जीवों को निज माया से ग्रासित किया और रुधिर के समुद्रमें स्नान किया सो इस पापसे किस प्रकार मुक्त होउंगी।

नाथ दयानिधे ! जब तक महिष मेष आदि जीवोंकी हिंसा जनित पातिक जव तक मुझे ग्रासीभूत न करै तब तक आप मेरी रक्षा करैं।

हे देव ! पूर्वकृत तीव्र पापसे मुक्ति होनेका प्रायश्चित रूप तीव्र तपका आचरण करूंगी जिससे जीव वधसे उत्पन्न हुई हिंसा का पाप विलयहोइ।

इस प्रकार पापसे कम्पित देवीके विनयपूर्ण वचन सुन कर अभयरुचिकुमार क्षुल्लक महाराज इसप्रकार कहनेलगे

क्षुल्लक—हे देवि ! हे विस्तीर्ण नितम्बे ! हे हंसगमने हे देव कामिन उत्पाद शय्यासे उत्पन्न हुए सप्त धातु उप धातु रहित शरीरके धारक वात पित्त और कफ जनित रोगोंसे विमुक्त सार रूप शब्द और मनके मैथुन सहित तथा काम रहित तथा एक एक हाथसे अनेक धनुष प्रमाण देहके धारक दश हजार वर्ष से तेतीस सागर पर्यंत आयु के भोक्ता व्यंतर देवोंके सर्वार्थ सिद्धके अहिमेंद्र पर्यंत एवं समस्त देवों में तपश्चरण नहीं क्योंकि देवों के उत्कृष्ठ चार गुणस्थान होते हैं इससे अव्रत पर्यंत रहते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होजाता है किंतु श्रावक के वृतभी जोकि दशव्रत नामक पंचम गुणस्थान होते हैं नहीं होते तो मुनि व्रत [जो कि प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान में होता है] किस प्रकार होसकता है।

हे देवि ! इस चतुर्गति रूप संसार में औरभी असंख्य

जीव ऐसे हैं कि वे तपश्चरण ग्रहण नहीं कर सकते।

चंडमारी—स्वामिन! यदि उनका कथन मुझे भी श्रवण कराया जावे तो अत्यंत कृपा होगी।

क्षुल्लक--यदि तू चित लगाकर श्रवण करेगी तो मैं अवश्य सुनाऊंगा अच्छा तू सुन मैं कहताहूं इस प्रकार श्रीक्षुल्लक महाराज कहने लगे कि

मूल प्राकृत

इल जल सिहि वायहं तण तरु कायहं संसारए अहिंडियहं।
संठिय चउ पाणहंणि नरु णिणाणं णत्थि दिक्खए इंद्रियहं

संस्कृत छाया

इलाजलशिखिवायुकायिकानांवनस्पतिकायिकानांसंसारेभ्रमतां
संस्थितचतुप्रणानांनिश्चयंज्ञानरहितानांनास्तिदीक्षाएकोंद्रियाणां

मूलार्थ

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, और पवन काय, एवं आहार, शरीर, इंद्री, और स्वासोश्वास, इस प्रकार चार प्राण धारक ज्ञान रहित एकेंद्रिय जीवोंके दीक्षा का ग्रहण नहीं है।

संस्कृतटीकार्थ

हे सुकुंतले! उपरोक्त पंचस्थावरों के सिवाय शंखलट आदि द्वे इंद्री पिपीलिका [चींटी] आदिते इंद्रिय और भ्रमर आदि चौ इंद्रिय एवं विकलत्रय जीवोंकेभी दीक्षा ग्रहण नहीं है।

इसीप्रकार असेनी पंचेद्री तथा श्रेणी पंचेंद्री तिर्यचों में दीक्षा धारण नहीं होता हां इतना अवश्य है कि जे सेनी पंचेंद्री सौम्य स्वभावी तिर्यंच हैं उनके पंचम गुण

स्थान होनेमे श्रावक के व्रत होइ तो होसकते हैं किंतु मुनिव्रत नहीं होसकते मुनिव्रत तो केवल मनुष्य पर्यायमें ही होता है।

हे देवि! मनुष्यों में भी जे पर के ठगनेमें तत्पर, दूसरे की ज्यादा चीज लेना, और अपनी कमती देना, झूठी साक्षी देनेवाले, पर जीवोंके घातने में कठोर परिणामी मायाचारी, अतिशय क्रोधी सत व्यसनके सेवनेवाले हलवाईगीरी का व्यापार, लोह पीतल का व्यापार, लाख, शक्कर, अनाज, [गल्ला] सींक रस्सा आदिके व्यापार करनेवालों में भी जिन दीक्षा न हों।

हे सुकोमले! रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा, वालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम्रप्रभा, तमप्रभा, और महातमप्रभा, एवं नरकोंकी सातोंही पृथ्वी के नारकियों में तपश्चरण नहीं हो सकता। हां इतना अवश्य है कि उपर्युक्त नारकियोंकेसम्यग्दर्शन होजाता है।

हे शोभने! तिर्यंचों में भी जे सर्प, गोह, नौला, तथा एक खुर के धारक घोटक (घोड़ा) आदि, फटे खुर के धारक महिष आदि तथा हस्ती आदि स्थलचर और मीन, कछवा, मगर, आदि जलचर और गृद्ध, काग चील्ह, घुग्घू आदि नभचर जीवों के भी जिन दीक्षा नहीं हो सकती। हां यदि किसी महात्मा का उपदेश मिल जाय और काल लब्धि निकट आ जाय तो सम्यग्दर्शन तथा श्रावक के व्रत हो सकते हैं।

हे देव कामिनि! मनुष्यों में भी स्त्री, वालक, वृद्ध, मुनिघातक ग्रामोंके दाहने वाले, परस्त्री लंपट, मद्य, मांस,

मधु,के लंपटी, द्यूतक्रिया में रत, वेश्यासक्त, जैन धर्म के निंदक,चोर,कर्मी,शिकारी, निर्दय परिणामी,दूसरों में लड़ाई झगड़ा कराने वाले,दूसरे के धन ऐश्वर्यको देखकर झूरने वाले इत्यादि जितने निर्दय परिणामी हिंसा के व्यापार में संलग्न रहने वाले हैं उनके भी मुनिव्रत नहीं हो सकता हां जब वेही सद्‌उपदेशसे पूर्व कर्म का त्याग कर देवें तो अवश्य हो सकता है।

देवि ! यद्यपि समस्त पर्यायों में मनुष्य पर्याय उत्तम है क्योंकि मोक्ष का उपाय इस पर्याय के सिवाय अन्यमें नहीं है परन्तु जे मूर्ख मोक्षके साधनों से अनभिज्ञ हो कर विषय में लंपटी होते हुए हिंसादिक कर्ममें प्रवृत्ति मान होते हैं वे अति रौरव नरक में पड़ते हैं वहां मान सिक दुःख हैही परन्तु क्षेत्र जनित और असुर कुमारों द्वारा परस्पर लड़ने भिड़ने से तीसरे नरक पर्यंत अति त्रासित होते हैं।

मूल प्राकृत

संगहियाधारए धरणविहारए धसरइ होतु अणंत दुहु।
परमाणु,यमेलणा,णयणणिमीलण,कालुविआत्थिणजेत्थुसुहं॥

संस्कृतछाया

संगहिता धारणे धारणी विहार प्रतिसरति अनंत दुःखं।
परमाणुमेलनं नयन निमीलन मात्रंकालं अपि न यत्र सुखं॥

भावार्थ

वे नारकी अत्यंत परिग्रहके धारनेसे, नरककी पृथ्वी में विहार करने से, अनंत दुःखों के भाजन होते हैं किंतु परमाणू के संमिलन तथा नेत्रके टमकार काल भी जहां सुख नहीं है।

संस्कृतटीकाथ

नरकों के नार की परस्पर शस्त्र प्रहार करते कंपित शरीर होते एक दूसरे को खंड २ करते हैं तौ भी पारेवत् मिल जाता है इस के सिवाय नारकियों का शरीर खड्ग से छेदा जाय, त्रशूलकर भेदा जाय, घानी में पेला जाय तो भी आयु पूर्ण हुए विना नाश को प्राप्त नहीं होता।

साती अधो भूमियों कर किये हुए अंतर युक्त चौरासी लाख विलोकें उदर में प्राप्त हुए नारकियों में जिन दीक्षा नहीं पर जन्म के वैरानुवंधके वल से जानने वाले तथा शरीर को विक्रिया से उत्पन्न किये आयुधों से परस्पर युद्ध करने वाले नारकियों में मुनिव्रत नहीं।

नित्य रौद्र परिणामी संहार कर्त्ता सात प्रकारके नारकियोंमें दिगंबरी दीक्षा नहीं होती।

हे भद्रे! इसी प्रकार अनेक सुखोंके आश्वादक अमृत भोजी और अनूपम क्रीड़ा में रत ऐसे देवों में दिगम्बरी दीक्षा नहीं होती।

इनके सिवाय कल्प वृक्षोंसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के पदार्थों के सेवने वा और मरण कर देव गतिके जानें वाले भोग भूमि या मनुष्यों में भी तपश्चरण नहीं होता तथा जे मिथ्यामती और उनके भक्त कुचारित्री, तापसी, भेषी, कुपात्रदानके दाता, विपरीत कर्ण पल्लव समान मुख के धारक, छानवे कुभोग भूमिके मनुष्य तथा आठ सौ पचास म्लेच्छ खंडके मनुष्यों में भी तपश्चरण नहीं है।

जंबूद्वीप धातु की खंडद्वीप और पुष्करार्द्ध एवं अढाई द्वीप की अंतिम जीवोंमें एक सौ सत्तर कर्म भूमियों के

मनुष्यों में यद्यपि जिन दीक्षा और मोक्षका सद्भावहै तथा निम्न लिखित क्रिया बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

मूल प्राकृत

जोतेसुहवेविणा, गुरुपणवेप्पिणा, लेइ धम्मकवडेण विणा,।
तउ करइं अगव्वे अकुटिल भावें पंचेंदिय सुहुगए तिणा,॥

संस्कृत छाया

यः तेषु भूत्वा गुरून् प्रणम्य लाति धर्म कपटेन विना।
तपःकरोतिअगर्वअकुटिल भावैः पंचेंद्रियसुखंगणयित्वातृणं

मूलार्थ

जो पुरुष उपरोक्त कर्म भूमियों में उत्पन्न होकर श्री गुरुको नमस्कार कर गर्व और कुटिल भावों के विना पंचेन्द्रिय जनित सुखको तृण समान गिनता हुआ तपश्चरण करताहै वह मुनिपुंगव अनल्प दिनोंमेंही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप एवं चार आराधनाओंका फल अविचल केवल ज्ञानको प्राप्त होजाता है।

भोत्रिदश भामिनि! देव और नारकियों में सम्यक्त्व तो होजाता है, किंतु उस भव में तपश्चरण नहीं होता इसी प्रकार भोग भूमि के मनुष्यों में सम्यग्दर्शन होताहै जिन दीक्षा नहीं होती, तिर्यंचों में सम्यग्दर्शन और श्रावक के व्रत भी होतेहैं किंतु तपश्चरण नहीं होता, और कर्म भूमि के मनुष्यों में समस्त व्रत होतेहैं क्योंकि महाव्रत रूप भार के वहने में मनुष्य ही समर्थ है।

इस प्रकार श्रीमुनि के कथन को श्रवण कर संसार के दुःखों से भयभीत होकर वह चन्डिका देवी! सम्यग्दर्शन को धारण कर श्री क्षुल्लक महाराज को नमस्कार कर सुमधुर वाणी से श्रीगुरु से कहने लगी।

चन्डिका- नाथ ! चतुर्गति रूप पाताल गर्तों सहित दुःख कर तरने योग्य और अत्यंत भयानक घोर, संसार समुद्र में पड़ती हुई मुझे आपने हस्तावलंब दिया।

स्वामिन् ! देवों के देव और जैन सिद्धांत के रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हो इस कारण आप मेरे स्वामीहो और मैं आपके चरणों की दासी हूं।

हेधर्मवत्सल ! आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूं; यदि आप की आज्ञा होतो निवेदन करूं।

क्षुल्लक महा-हे देव भामिनि ! जो इच्छा हो वह कह, तुझे योग्य उत्तर दिया जायगा।

चन्डिका देवी—स्वामिन् ! विज्ञप्ति यह है, कि आपने कहाकि देव पर्याय में तपश्चरण नहीं है सो तो ठीक ही है परन्तु यह तो कहिये कि अब मुझे क्या करना चाहिये आप कृपाकर शीघ्र मुझे संतोषित कीजिये।

क्षुल्लक—(मेघोंकी विजय करने वाली दुंदुभि समान शब्द उच्चारण करते) शोभने ! जिस पुरुष के शरीरमें व्रण (घाव) वा गूमड़ा नहीं होता उसपर मक्षिका नहीं बैठती इसी प्रकार जो सर्व वस्तु से निर्ममत्व रखता है वह किसी के दिये हुएको ग्रहण नहीं करता।

इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज के वचनों को श्रवणकर चंडिकाने कहा।

चंडिका—हे गुणरत्न भंडार ! आपने यत्किंचित् संकेत मात्र वर्णन किया वह मैं। पूर्णतया समझ गई आपकी आज्ञानुसार ही करूंगी।

क्षुल्लक—भोदेवि ! यदि तू मेरे वचनानुसार परोप-

कार पूर्वक जीव दया में तत्पर रहैगी और जिन बचनों का श्रद्धान करैगी तथा धर्मात्माओं की रक्षा करैगी तो अवश्यमेव तेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार क्षुल्लक महाराजके वचनों से संतुष्टमान होती चंडिका देवीने श्री क्षुल्लक महाराज के चरणों को पुनः पुनः नमस्कार कर उनकी आज्ञा को शिरो धारण करती भई पश्चात् श्रीगुरुके समक्ष महीपतिसे कहने लगी।

चंडिका—राजन्! अभी तक तो जो कुछ हुआ सो हुआ परन्तु अब आजसे किंचित् मात्र भी किसी जीव की हिंसा नहीं करना।

पृथ्वीनाथ! आजसे अपने समस्त राज्यमें इस बात की घोषणा कर देना चाहिये कि समस्त प्रजा सौम्य भाव धारणकर रौद्र भावको त्यागो अर्थात् जो पुरुष स्त्री बालक और वृद्ध वन में उपवन में चौपथ में निज गृहमें देवी के मंदिर में साक्षात् पशु को तथा कृत्रिम पशुको देवता पित्तर इत्यादिकों के निमित्त हिंसा करैगा उस मैं (देवी) गृह कुटुंब सहित क्षयको प्राप्त करूंगी।

इस प्रकार चंडिका देवी के आदेश पूर्ण बचन सुन कर मारिदत्त नृपति इस प्रकार कहने लगा।

नृपति—मातुश्री! आपकी आज्ञा के पूर्वही श्री क्षुल्लक महाराज के उपदेश से मेरा हृदय जीव हिंसा से सकंप होगया था क्योंकि श्री क्षुल्लक महाराजने तो यशोधर के भव में कृत्रिम कुकुटही कुल देवीके अर्थ अर्पण किया था उसी पापसे आपने जो संसारमें परिभ्रमण किया उसका चरित्रही हृदय विदारक है।

भो चंडिके! ऐसा कौन पाषाण हृदय होगा जो श्री गुरु की भवावली को श्रवण कर जीव हिंसासे भय भीत न हो मैंने भैरवानंदकी आज्ञानुसार अनेकशः जीवों के युगल एकत्रित किये, उसीसे मेरा हृदय भय से सकंप हो रहा है, तिस पर भी आपकी आज्ञा हुई अब तो अवश्य ही अपने राज्य में जीव हिंसा नहीं होने दूंगा।

इस प्रकार मारिदत्त नृपति को आज्ञा प्रदान कर और श्री मुनिके चरणों को नमस्कार कर श्री गुरु की आज्ञानुसार चंडिका देवी। अदृश्य होकर निज स्थानको प्रयाण कर गई तत्पश्चात्—

मूलप्राकृत

तो मउलिय लोयणिंदियणियगुण हियसुद्धवुद्धहेचाडिउ।
दिग्गयगयगामहे खुल्लियसामिहे मारदत्तु पायहिं पडिउ॥

संस्कृतछाया

तदामुकलितलोचनः निंदितनिजगुणः हृदयशुद्धवुद्धत्वादितः।
दिग्गजगजगामन क्षुल्लकस्वामिनः मारिदत्तः पादयोः पतितः॥

मूलार्थ।

तदनंतर पुलकित लोचन होता और अपने गुणोंकी निंदा करता मारिदत्त महाराज निज हृदय में सुद्ध वुद्ध के ध्यान में रत और दिग्गज समान गतिके धारक श्री क्षुल्लक महाराज के चरणों में पड़ता भया और इस प्रकार निवेदन करने लगा।

मारिदत नृप—स्वामिन्! आपने निज माताके आग्रह से कृत्रिम कुर्कुट का घात कर कुल देवता के अर्थ अर्पण किया उसी पाप से आप संसार वन में इतने भ्रमे

और इतना क्लेश भोगा कि जिस का पारावार नहीं मैंने जो अनेक जीवों के इतने युगलों का हनन किया कि जिस के देखने से वज्र हृदय भी दयाकर पूर्ण हो जाता परन्तु मेरे हृदय में किंचित् भी दया न आई।

नाथ ! धर्म वत्सल ! उपरोक्त पाप कर्म से नार की जीवों के रण से व्याप्त अंधकार मय नारकियों के कोलाहल शब्दसे पूर्ण और महा रौरव नरक में पकड़ कर दुःसह वेदना का पात्र बनूंगा।

हे गुणरत्नाकर ! उपर्युक्त पापकी शांति के अर्थ समस्त पापों की निवृत्ति करनेवाली निर्ग्रंथ वृत्तिकाही आचरण करूंगा, क्योंकि जबतक निर्जनवन गिरिगुफा आदि मे निवाश कर दिगंबरी वृत्ति धारण कर पाणिपात्र आहार न करूंगा तबतक संसार रूपी दृढ़पासी से मुक्त होना कष्ट साध्य ही नहीं किंतु असंभव है इसकारण आप मुझे जिनदीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये॥

इसप्रकार मारिदत्त नृपति के वचन सुनकर क्षुल्लक महाराज ने, मारिदत्तसे इसप्रकार कहा॥

क्षुल्लक — राजन्! आपका विचार अत्युत्तम है परंतु मैं स्वयं महाव्रतका धारक मुनिराज नहीं, इसकारण आप को दीक्षा नहीं देसकता, इसके सिवाय यहभी एक नियम और आचार व्यवहार है कि यदि अपने गुरुनिकटस्थ होंइतो स्वयं दीक्षा, शिक्षा किसी को न देवे, और यदि हठात् देवे तो वय पापियों की पंक्ति में गिनाजाइगा इसकारण तुमको अपने गुरु सुदत्ताचार्य के निकट ले चलता हूं, वेहीआपको . . क्षा शिक्षा देंगे॥

इस प्रकार श्री क्षुल्लक महाराज के वचन सुनकर मारिदत्त नृप आश्चर्य युक्त होता निज हृदय में विचार करने लगा आहाहा! जगतमें तपस्या के समान कोई महा नहीं क्योंकि समस्त मनुष्यों में मैं पूज्य मुझकर पूज्य चण्डिका देवी तथा देवी के गुरु क्षुल्लक महाराज और क्षुल्लक महाराज केभी गुरु श्रीसुदत्ताचार्य हैं यह समस्त तपकी महिमा है ॥

इसप्रकार निज हृदयमें विचारकर पुनः विनयपूर्वक हाथ जोड़ नृपति ने क्षुल्लक महाराज से कहा।

नृप—धर्मरत्न भंडार स्वामिन्! आपके श्रीगुरु कहां तिष्ठे हुवे हैं आप मुझे उनके निकट ले चलिये मैं चलने को तय्यार हूं।

इस भांति नृपतिकी विज्ञप्ति सुन कर क्षुल्लक महाराज राजाको अपने साथ लेकर श्रीसुदत्ताचार्य के निकट पहुंचे।

वे श्रीसुदत्ताचार्य महामुनि! अवधि ज्ञान नेत्रके धारक देव मनुष्यों कर पूज्य अष्ट मदोंको निर्मदकर मोह मल्लको निर्जित कर वे गुण समृद्धि अनेक ऋद्धियों कर पूर्ण होते हुये समस्त कर्मोंके वलको जर्जरित किया है वे दयानिधि दिगम्बराचार्य तपमें तिष्ठेहुए दशधाधर्मको धारण करते निज आत्मा के ध्यानमें मग्न हैं।

उन महा तपस्वी आचार्य वर्यके निकट पहुंचकर क्षुल्लक महाराज और मारिदत्त नृपति ने जगत्पूज्य गुरुके चरणों की वन्दना की पश्चात् भूमि से मस्तक लगाकर श्रीगुरु के चरणों के मूल में तिष्ठे तत्पश्चात्।

मूलप्राकृत

तहिंअवसरिंगुरुणागुणगणगुरुणाधम्मविद्धिसुपइच्छिया ।
संतुष्ट मणेण तेण णिवेणणिय सीसेण पड़िद्धिया ॥

संस्कृत छाया

तस्मिन्नवसेर गुरुणा गुण गण गुरुणाधर्मवृद्धिःप्रयच्छिता ।
संतुष्टमनसा तेन नृपेण निज शीर्षेण गृहीता ॥

मूलार्थ—उस अवसरमें गुणोंके समूहोंसे महान् श्रीसुदत्ता-चार्य गुरुने धर्म वृद्धि दीनी पश्चात् संतुष्ट मनसे नृपति ने निज मस्तक से ग्रहण कीनी ।

संस्कृत टीकार्थ

तदनन्तर हर्षित चित्त होकर महाराज मारिदत्तने श्री गुरुवर्यको नमस्कारकर कहा कि स्वामिन् ! मुझे आप की भवावली के श्रवणकी अभिलाषा है तथा यह मस्तक नीचा कियेहुये गोबर्द्धन सेठ बैठाहुवा है इसके भवोंकी कथा मेरे संसार भ्रमणका चरित्र इस शांति चित्त हुए भैरवानन्द की संसार कहानी चण्डमारी देवीके भवोंका वृत्तान्त तथा गुण पूर्ण प्रधान पुरुष यशोर्ध राजा चन्द्रबदनी चन्द्रमती रानी तथा महा अपगुणों की खानि दुश्चारिणी पापिष्टा जारकम दत्ता अमृतमती जगत्प्रसिद्ध विनय गुणयुक्त यशोमति नृपति और लज्जावती विनयवती कुसुमकुमारी की भव सम्पति आप कृपाकर कहिये जिससे हमारा संशय दूरहो इसके सिवाय घोड़ाके भी भवों का वर्णन कीजिये ॥

इसप्रकार मारिदत्तकी प्रार्थनासे श्रीआचार्य वर्य कहनेलगे कि राजन् ! यदि तेरी यही इच्छा है तो मैं कहताहूं तू चित

लगाकर श्रवणकर जिससे तेरे हृदयका संशय तिमिर नष्ट होकर ज्ञान सूर्यका प्रकाश होजाय ॥

श्रीआचार्य—राजन् उत्तम रिद्धियुक्त प्रसिद्ध गंधर्व नामक देश है जहां खेतों में पके हुये शाल के वृक्षों की झनकार और चावलों की सुगन्धि से समस्त वन सुगन्धमय होरहा है जिस देशमें मृगनाभि (कस्तूरी) की सौरभ कर अति सुगगन्धमय और अति उन्नत शिखरोंकी शोभा से गंधर्व नगरकी शोभाको तिरस्कार करता गंधगिरि नामका पर्वतहै।

उस पर्वत के ऊपर घन कण करपूर्ण ग्रहोंकी पंक्ति और शुभाचारी मनुष्योंके निवाशयुक्त गंधर्वपुर नामकी नगरी है तिस में राज मार्ग का ज्ञाता वैदर्भ नाम का राजा हुवा वह नृपति असदृश दान और भोगोंकर चिन्हित शरीर का धारक शत्रुवर्ग के दुलवलका घातक और राजनीति में अति निपुण न्याय पूर्वक प्रजाका पालन करता था।

उस वैदर्भ नामक पृथिवीपालके विंध्यश्री नामकी अति मनोहरा पतिव्रता स्त्रीथी वह विंध्यश्री निज स्वरसे कोकिला निज मति से हंसिनी की विजेता थी जिसको रूप सम्पदा को देखकर देवांगना लज्जित होती थीं।

उस विंध्यश्री रानीकी कुक्षासे कामदेव समान अनोपम रूपका धारक एकंकजनों कर प्रशंसनीय गंधर्वसेन नामका पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ तथा अति कोमल और क्षीण शरीरको धारने वाली उत्तम लक्षणों युक्त गंध श्री नामकी पुत्री उत्पन्न हुई यह पुत्र पुत्रीका मनोहर युगल ऐसा दृष्टिगत होताथा मानों विधाताने स्वयं उसका लालन

पालनकर जगतमें उत्तम रूप लावण्य युक्त कियाहै वह युगल जैसाही रूपवानथा वैसाही स्वभावकर शौम्य और मधुर बचनों द्वारा लोकोंका मनोरंजन करता था वह युगल निज बाल लीलासे समस्त पुरजन और परिजनको प्रिय था जिसका विद्याभ्यास अनेक सुरीतियोंका बोधक और ज्ञान वृद्धिका मुख्य कारण था।

वह बांबश्री नामकी पुत्री ! सुकोमलांगी गजगमनी मृदुहासिनी निज माता पिताओंके चित्तको आनंददायिनीथी

मूल प्राकृत

पियपुत्तसमाणु पविहियमाणु सज्जनकमल दिणसरु।
दुज्जणगयसीहु दीहरजीहु भुंजइरज्जु णरेसरु ॥

संस्कृतछाया

प्रियपुत्रसमाना प्रविहितमानासज्जनकमल द्विवाकरः।
दुर्ज्जनगजसिंहः दीर्घ जीवितव्यः भुनक्तिःराज्यंनरेश्वरः ॥

मूलार्थ

वह मानका रचनेवाला सज्जन पुरुष रूप कमलोंको दिवाकर तुल्य दुष्टजन रूपगजराज को सिंह समान और दीर्घ जीवी नरेश्वर निज पुत्रीको पुत्र समान गिनता राज्य भोगता भया।

उस वैदर्भ नामक नृपतिके मंत्रि विद्या विशारद सर्व विद्याओं में निपुण राज्य भार चलाने में चतुर राम नाम का मंत्री था जिसके रूप लावण्य गुण विशिष्टा पतिव्रता और निज पतिकी अनुगामिनी चन्द्र लेखा नाम की प्रिय भार्या थी।

उस चन्द्र लेखाके उदरसे उत्पन्न हुआ दोष रहितगर्व

रहित भय रहित रूप गुणका पात्र शत्रु दलका विध्वंशक जित शत्रु नामका पुत्ररत्न पृथ्वीपर प्रसिद्ध था ॥

उस जित शत्रुका भीम नामका लघु भ्राता पाप कर्म में चतुर भीम समान बलवान और कपट चातुर्यतामें निपुणथा

श्री सुदत्ताचार्य ! मारिदत्त नृपसे कहने लगे कि राजन् वह वैदर्भ नामका राजा निज चातुर्यता और न्याय परायणता पूर्वक राज्य करता काल व्यतीत करने लगा एक दिन सखियोंके साथ क्रीड़ा करता गंधर्व श्री नामकी निज पुत्रीको यौवना रुढ़ देखकर निज हृदय में विचार करने लगा कि पुत्री विवाह योग्य हुई इसके वास्ते वर ढूंढ़ना परमावश्यक है ऐसा विचार कर निज प्रिया पत्नी विध्यं श्री से इस प्रकार कहा ।

वैदर्भनृप—प्रिय ! आज पुत्रीको देखकर मुझे उसके विवाहकी चिंता उत्पन्न हुई है अर्थात् पुत्री विवाह योग्य हो गई इसके अर्थ योग्य वरकी खोज करना चाहिये वर भी ऐसा होना चाहिये जैसी कि रूपवती गुणवती और रूप लावण्य गुणयुक्त पुत्रीहै।

विंध्यश्री रानी प्राण नाथ । आपका कहना सत्य है परन्तु हमतो पुत्री के जन्म और पालन पोषणको अधिकारिणी हैं किन्तु कन्याके विवाह और योग्य वरकी खोज करना आपके अधिकार में है इससे आपही मंत्रियोंसे मंत्र कर योग्य वरकी खोज कीजिये ।

वैदर्भनृप- प्रिय । तुम्हारा कहना यथार्थहै परंतु तुमको पूछ लेना भी तो सर्वथा उचित है ।

विंध्यश्री प्राणवल्लभ । यह आपकी अनुग्रह है परन्तु अब आपही जैसी उचित समझे पुत्रीका पाणि ग्रहण करवाईये

इस प्रकार महारानी से वार्तालाप कर द्वारपाल को बुलाकर मंत्रि मंडल को एकत्रित करनेकी आज्ञा दी सो द्वारपालने समस्त मंत्रियों को बुलाकर इस प्रकार पूछा ।

वैदर्भनृप (मंत्रियोंसे) आज निज सखियों सहित क्रीड़ा करती पुत्रीको देखकर पुत्रीके विवाह की चिन्ता उत्पन्न हुईहै सो आप लोग योग्य वर अर्थात् जैसी कन्या है वैसे वरकी खोज कीजिये ।

राममंत्री । पृथ्वीनाथ । आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूं यद्यपि प्रतापी राजाओं के अनेक पुत्र हैं तथापि पुत्रीके योग वर दृष्टिगत नहीं होता क्यों नीति शास्त्र में सप्त गुण युक्त वर कहा है यथा ।

श्लोक ।

कुलं च शीलं च वयुर्वयश्च विद्याच्च वित्तं च सनाथतांच ।
एतान् गुणान् सप्तपरीक्ष्यदेता ततःपरंभाग्य वशाहि कन्या

अर्थ ।

उत्तम कुल, सुन्दर लोकप्रिय स्वभाव, नीरोग शरीर, पूर्ण आयु, लौकिक और पारमार्थिक विद्या, योग्य धन और स्वामित्व एवं सप्तगुणों की परीक्षा लेना पश्चात् कन्या का भाग्य है ।

स्वामिन् ! उपर्युक्त गुणविशिष्ट राजपुत्र मेरी दृष्टि में नहीं आता क्योंकि बहुत खोज करने पर भी कहीं कुल है तो अन्य गुण नहीं इत्यादि किसी में भी सातों गुण देखने

में नहीं आते, इस कारण मेरी सम्मति तो यह है कि पुत्री स्वयं योग्य वर को देखकर उसके कण्ठ में वर माला डाले तो अत्युत्तम होगा, क्योंकि गन्धश्रीपुत्री स्वयं सामुद्रिकादि अनेक शास्त्रों की ज्ञाता है वही योग्य वर को वरे तो उत्तम है ॥

वदर्भ नृप--तो क्या स्वयम्बर मण्डफ बनवाना चाहिये।

राम मन्त्री--हाथ (जोड़कर) श्री महाराज ! अवश्य स्वयंवर मण्डफ बनाना होगा और समस्त राजपुत्रों को निमन्त्रण भेजना होगा।

इस प्रकार राममन्त्री का कथन श्रवण कर महाराज ने अन्य मन्त्रियों से भी सम्मति मांगी सो सर्व मन्त्रियोंने भी राममन्त्री की भांति स्वयंवर मण्डफ की सम्मति दी।

महाराज वैदर्भने सर्व मंत्रियों की संमति से स्वयम्बर करने की राय पक्कीकर मन्त्रियों को आज्ञादी कि स्वयम्बर मन्डफ तयार कराकर राज पुत्रोंको बुलानेके अर्थ हलकारात्रों द्वारा निमन्त्रण पत्र भेजने की आज्ञा दी सो समस्त राजकर्मचारियोंने जो जिसकाकाम था उसने संपादनकिया

स्वयम्बर के अर्थ अत्युत्तम अनेक स्थंभों का मण्डफ तयार कर राजपुत्रों के बैठने योग्य रमणीक मनोरञ्जक स्थान निर्मायन किया।

अनेक देशों के आएहुये राजपुत्रोंका स्वागत राज कर्मचारियों ने सर्व प्रकार से अत्युत्तम किया पश्चात् जिससमय समस्त राजकुमार निज २ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मण्डफ में तिष्ठे उसी समय गंधश्री नामकी राजपुत्री निज सखियों सहित स्वयम्बर मण्डफमें आकर समस्त राजकुमारों

पर दृष्टिपातकिया उस समय वृद्ध स्रोजाने सर्व कुमारों के नाम कुल गुण स्थान पराक्रम आदिका वर्णन किया परन्तु राजपुत्री के हृदयमें एकभी राजपुत्रने प्रवेश न किया किंतु राम नाम नामक मन्त्री का पुत्र जित शत्रु जोकि यथार्थमें जित शत्रुहीथा उसके कण्ठ में वरमाला डाली।

जिस समय राजपुत्री ने जित शत्रुके कण्ठ में वरमाला डाली उस समय न्यायवान् नृपतियों द्वारा धन्य धन्य वाह वाह का शब्द सर्वओर से प्रतिध्वनित होने लगा॥

पश्चात् विधिपूर्वक पाणिग्रहण हुवा उस समय संख तूर भेरि आदि अनेक वादित्रों और बादित्रोंके शब्दसे सर्वदिशा बधिर होने लगीं इसके सिवाय और भी अनेक प्रकार के उत्सवोंकर विवाहका कार्य समाप्त हुआ।

तदनन्तर जित शत्रु निज प्रिया सहित सुखपूर्वक मनो रंजक क्रीड़ा करता काल व्यतीत करता भया।

अथानन्तर एकदिवस वैदर्भ महाराज मृगया शिकार के अर्थ अनेक बधिक (शिकारी) आदि अनेक शस्त्रधारी सुभटों और हिंसक जानवरों सहित वनको गए वहां हिरण के युगलको दूबके अंकुर चरतेदेख बाणका निशाना लगाया सो वह हिरण और हिरणी एवं दोनोंही यह आपत्ति देख वहांसे भागे परन्तु भाग कर कहां जातेथे किंतु राजा ने भी उनके पीछे घोड़ा दोड़ा कर बाण छोड़ा सो हिरणी बाण से वेधित होकर धरातलमें पड़ी।

उस प्राण रहित मृगी को बधिकों ने उठा कर पयान किया पश्चात उस छोड़ते हुए हिरण ने जब मृगी निज स्त्री को न देखा तो दिशा भूल होकर पुकारता हुआ इतस्ततः भ्रमण करने लगा।

वह हिरण निज पत्नी के विरह में व्याकुल ऐसा अंध होगया कि उसे अपने प्राणों का भय न रहा किंतु दौड़ता पड़ता शब्द करता और नेत्रों से अश्रुधारा वहाता मृतक हिरणी की ओर आया ॥

उस समय हिरण की शोक पूर्ण अवस्था देखकर राजा वैदर्भ का हृदय दया रससे आर्द्रित होने लगा।

उस समय करुणारस से पूर्ण गर्भ रहित होता राजावैदर्भ निज हृदय में चिंतवन करनेलगा हा शोक ! मैं इंद्रियों के विषयों में आशक्त शारीरक क्रिया में लंपट अज्ञानी होता हुआ इतने काल पर्यंत धर्म अधर्म तथा उसके फल सुख दुःख से अनभिज्ञ ही रहा।

हा ! मैंने विषयों में सुख मान किसी भी प्रकार का परोपकार न किया किंतु श्री निरपराध जीवोंकी हिंसा कर उलठा पाप का बंध किया।

राजा बिचार करने लगे कि अब मुझे समस्त पापकर्मों का त्याग कर धर्म सेवन करना ही उचित है क्योंकि इन विषयों को सेवन करनेसे कल्प काल में भी तृप्ति नहीं होगी इस के शिवाय ये विषय वर्त्तमान में तो उत्तम ज्ञात होते हैं किंतु परिपाकमें अति विषम और नरकादिके लेजाने वाले हैं

इस प्रकार संसार देह और भोगों से विरक्त होकरनृपति निज गृह जाकर सर्व राज्ञमंडल को एकत्रिंत कर निज वैराग्य की सूचना करने लगे ॥

यद्यपि समस्त राज कर्म चारी गण और रनिवास आदि राजाके वैराग्य से शोकाकुल होकर राजा को दीक्षा से निर्वित करने अर्थ अनेक प्रकार के षड़ यंत्र रचे परन्तु

वैराग्य विभूषित नृपति किसी प्रकार नरुके किंतुअपने प्रिय पुत्र गंधर्बसेन को राज्याशन समर्पणकर आप तपो बन को गमन कर जैनाचार्य के निकट जिन दीक्षा ग्रहण करते भये

उसी समय महारानी विध्यश्री भीअर्यिकाओं केनिकट समस्त परिग्रह का त्यागकर एक श्वेत साड़ीमात्र धारण कर भगवती के यशको प्रकाशित करती आर्याके व्रतको ग्रहणकरती भई

वे वैदर्भ महाराज समस्त वस्त्राभूषणादि परिग्रह का त्यागकर परम दिगम्बरी दिक्षा धारणकर श्रीसम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्न से अलंकृत हो दिशारूप वस्त्रों को धारणकर महा मुनि हुये

वैदर्भ महाराज कोमुनि हुए पश्चात् गंधर्बसेन शत्रुवों के मान कामर्दन करने वाला राज्यासन पर तिष्ठा

वहगंधर्बसेन गजराज अश्व रथ पयादे आदि राज्य रिद्धि युक्त न्याय पूर्वक प्रजा पालन करने लगा।

मूलप्राकृत।

इक्कइया तेण गंधव्वेण णिय खंधारहिं जुत्तउ।
कयजत्त पवित्त पविमलचित्त पिउरि सिपासे पहुत्तउ

संस्कृतछाया॥

एकदातेन गंधर्वसेनेन निजस्कंधवारैर्युक्तः।
कृतयत्नपवित्रःप्रविमलचित्तः पितृरिषपार्श्वे वैदर्भगतः

भूलार्थ।

एक समय उस गंधर्वसेनने अपनी सेना सहित यत्न पूर्वक पवित्र और निर्मल चित्त निज पिता वैदर्भरिषी के निकट गमन किया।

उस समय वैदर्भीरिषी सन्यास में तिष्ठे हुये जिस समय गंधर्वसेनको चतुरंग सेना सहित पूर्ण तेजयुक्त देखा उस समय वैदर्भनृप ने निज हृदय में निदान किया कि मैं निज व्रतके प्रभाव से इस प्रकार की सिद्धि का धारक धराय पति होंउ ।

श्रीग्रन्थकर्ता कहते हैं कि हा ! धिक् इस निदान बंध को कि अमूल्य रत्नको तंदुल के तुष [भूसी] में देदिया जिस तपश्चरणके प्रभावसे इंद्रादि पद तथा मोक्षको प्राप्ति होती है उस महान फलदायक व्रतके फलको किंचित् विभूतिके लोभमें विक्रिय कर दिया ।

पश्चात वह मिथ्यात्वकर दूषित वैदर्भरिषी आयुके अंत में मरण प्राप्त होकर उज्जैनी नगरी में यशोधर राजा के गृह में यशोर्ध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ वह यशोर्ध निज यशसे समस्त दिग्मंडल को पूरित करता समुद्रांत पृथ्वी के स्वामित्वका राज्य पद निज ललाट प्रति धारण करता तिष्टा ।

वह विंध्यश्री (वैदर्भ की रानी) जो आर्यिका हुई थी भगवान के चरण कमल निज हृदय में धारण कर तपश्चरण कर शरीर का शोषण करती और मिथ्यात्व के उदयसे गंगादि सरिताओंमें तीर्थ की कल्पनाकर स्नान करती अन्त समय मरण प्राप्त होकर अजितांगज राजा के गृहमें चन्द्रमती नामकी पुत्री हुई ।

वह चन्द्रमती स्वभावकी भोली और बुद्धि कर मंद थी उसे यशोधर नृपति नें परनी पश्चात् चन्द्रमती की कुक्षा से यशोधर नाम का पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ ।

वह यशोधर निज परिवार के पोषण में कल्प वृक्ष तुल्य हुआ, एक समय जब यशोधर महाराज को वैराग्य उत्पन्न हुआ तब यशोधर को राज्यासन पर स्थापन कर समस्त राज्य भार सपर्ण किया ।

पश्चात् यशोधर महाराजा समस्त परिवार और शरीरादि से मोह का त्याग कर द्वादश विध तपश्चरण कर अंति समय समाधि मरण कर छट्ठे ब्रम्होत्तर नामक स्वर्ग में बड़ी रिद्धि का धारक देव हुआ ।

महाराज वैदर्भ की गंधश्री नाम की पुत्री जो कि मंत्री के पुत्र जितशत्रु के साथ व्याही गई थी वह पाप कर्म के उदय से निज देवर (जितशत्रु का लघु भ्रात) भीम से आशक्त चित्त होकर गुप्त रीति से भोगों में संसचित्त होती भई ।

एक दिवस जितशत्रु नें गुप्त रीति से निज पत्नी गंधश्री का कुत्सित कर्म देख लिया सो सत्य ही है कि अशोभन पाप कर्म कितना ही छिपकर किया जाइ किन्तु किसी दिन प्रगट हो ही जाता है ।

जितशत्रु नें निज भार्या का व्यभिचार जैसे ही देखा था कि तत्काल स्त्रियों के चरित्र और संसार देह भोगों से विरक्त होकर तपो वन में जाकर जैन दिगंबराचार्य के निकट जिन दीक्षा धारण कर चिरकाल तपश्चरणकर अंत समय समाधि मरण कर चन्द्रमती (राजा वैदर्भ की रानी विंध्यश्री के जीव) के गर्भ से यशोधर नाम का पुत्र हुआ था ।

वही राजा यशोधर ! यशोधर के पीछे राज शासन करता न्याय-पूर्वक प्रजापालन करने लगा ।

जितशत्रु की माता निज पुत्र वधूके व्यभिचार के कारण जितशत्रुका वैराग्य होना श्रवण कर निज भर्तार राम सहित ब्रह्मचर्य नामक व्रत ग्रहण कर अंत समाधि मरण कर दृढ़ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से विजयार्द्ध गिरि पर उत्पन्न हुए।

और राजा वैदर्भ का पुत्र जो गंधर्वसेन था वह भी गंधश्री का अशोभन कर्म श्रवण कर स्त्रियों के कुत्सित कर्म की निंदा करता श्री मज्जैन मत की शिक्षा ग्रहणकर अनशनादिव्रत का आचरण कर निदान सहित मरण को प्राप्त होकर तूं मारदत्त हुआ सो अब तूं निज आत्मा का स्वरूप जानकर आत्म कल्याण कर।

मूलं प्राकृत

णि सुण हि होराय अणकहं तरु गुण भारिया।
मिहला उर रम्मि जण धण कणाय समावरिया॥

संस्कृत-छाया।

शृणु भो राजन् अन्य क थांतरं गुण भरते।
मिथुला पुरे रम्ये जन धन कन समा भ्रते॥

मूलार्थ।

भोराजन् मारिदत्त! जन धन और कण (धान्य) कर पूर्ण गुण भरित और रमणीक मिथुलापुरी में अन्य कथांतर श्रवण कर।

संस्कृत टीका अर्थ।

राजन्! उस मिथुलापुरी नाम की नगरी में गुणों के समूह से शोभ मान सम्यक्त्व रत्न से विभूपित व्रतदानरूप कार्य और श्रुत के अर्थ का धारक जिनदत्त नाम का श्रावक सेठ प्रचुर द्रव्य का धनी था।

नृपवर ! राजा यशोधर का घोटक जो जलगाहन समय महिष द्वारा मरण प्राप्त हुआ था वह जिन दत्त की गाय के उदर से दृढ और दीर्घ काय वृषभ उत्पन्न हुआ ।

कालांतर में एकदिन जब वह वृषभ आसन्नमृत्यु हुआ तब जिनदत्तसेठने उसे पंचणमोकार मंत्र श्रवण कराया-उससमय संसारके दुःखोंसे तप्त बलधनें ध्यानपूर्वक णमोकार मंत्रका श्रवण किया -जिसके फलसे-हे राजन् मारिदत्त ! तेरी रुक्मिणी रानीके श्रेष्ट गर्भसे-पृथ्वीवलयमें प्रताप धारी- और शत्रुओंके मान का मर्दक रिपुमर्दन नामका पुत्र हुआ-

नृपवर ! राममंत्री का लघुपुत्र जोकी निज भावज गंधश्रीसे व्यभिचार कर्म सेवन करताथा वह पापकर्म के योगसे-संसार समुद्रमें पतनकर- पापिष्ट कूबड़ा हुआ -

और कुटिल चित्ता गंधश्री । व्यभिचार रुप कुत्सितकर्मसे क्षीण शरीरा काल की कुटिलताकर - मरणप्राप्त होकर - विमल बाहन नृपकी रानी के गर्भसे- अमृतमती नामकी पुत्री हुई सो यौवनारम्भ में दैव योग से यशोधर महाराज से पाणिग्रहण हुआ ।

नृपश्रेठ ! वह अमृतमती जोकि पूर्व भवमें गंधश्री थी सोपूर्वसंस्कार से भीमका जीव जो कूबड़ा हुआ उस से पूनः व्यभिचार सेवन किया ।

राजन ! अब तुझे यशोमति और अभय रुचि कुमार की बार्ता सूनाता हूं अर्थात् राममंत्री जोकि मरणप्राप्त होकर विजयार्ध गिरि प्रीत उतपन्न हुआ था वह दिनकर तुल्य प्रताप का धारक होता हुआ ब्रह्मचर्य पूर्वक अनुव्रतों का पालनकर शुभ कर्म के योग्यसे समाधि मरणकर

यशोधर राजा की रानी के गर्भ से यशोमति नामका वीर पुत्र हुआ।

राममंत्री की स्त्री जित शत्रु की माता जो कि ब्रह्मचर्य के प्रभावसे विजयार्ध गिरि पर चन्द्रलेखा नामकी विद्या धरी हुईथी वह धर्म सेवन कर अंतसमय समाधि मरण कर यशोमति की रानी कुसुमावली हुई थी वह समस्त विद्याओं में निपुण दोनों कुलों को उज्वल करती सुख पूर्वक तिष्ठी।

। मूल प्राकृत ।

सहडहु पर रक्खिउ जामणि रक्खिउ रायतुरउ खरखुर चपलु।
रोसा इद्धेन माहिंदेण मारउ सो पीवंतु जलु ॥

॥ संस्कृत छाया ॥

सुभट परिरक्षतः यावत् निरीक्षतः राजतुरंगः खरखुर चपलः।
रोषाविद्धेन माहिंद्रेण मारितः सः पिवत् जलम् ॥

मूलार्थ

सुभटों कर रक्षा किया हुआ और तीक्ष्ण खुरों कर चपल जल पीते हुए राजतुरंग को जैसाही देखा तत्काल रोष के आवेश में महिपेश्वर ने घोड़े को मारा ॥

इस प्रकार मुनि महाराज के वचन श्रवण कर महाराज मारिदत्त ने श्री मुनिको नमस्कार कर पूछा स्वामिन् भो संशय तिमिरभास्कर महिप ने राज तुरंग किस कारण जलपान करते मारा ॥

श्रीमुनि बोले राजन्! यह प्राणी पूर्व वरके योगसे एक दूसरेका घात करता है - पूर्वभवके रोप रूप अग्निमें भस्म होता है इसीप्रकार इनदोनों में पूर्वभवका बैर था अर्थात्

घोटक के जीवनें महिष के जीवका घातकिया था उसी पुर्व वैरानुबंधसे - महिषनें घोटक का बिनाश किया

पृथ्वीपाल ! ज्ञानी जन इसी कारण किसी जीवसे वैर धारण नहीं करते क्योंकि जो एक बार किसीका घातकरता है - वह अन्य जन्ममें उसके द्वारा स्वयंघात कियाजाताहै-

धरानाथ ! जोकि बछड़ेके जीवको सेठ ने नमोकार मंत्र दियाथा उसके प्रभावसे वह तेरी स्त्रीके गर्भ में तिष्टा वह समयांतर में जन्म लेकर यौवनारंभमें दिनकर तुल्य प्रताप का धारक राजा होकर पृथ्वीका पालक हुआ

राजन् ! वहतेरा पुत्र चिरकाल पर्य्यंत राज पालनकर भगवान् सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग का पथिक बनकर - चित्रांगद नामका धारक महाबली तेरे दियेहुए राज्यको त्याग भगवती दीक्षा धारणकर - नदिसरोवरादि का अवगाहन करता पृथ्वीपर भ्रमणकर - तेरे नगरके श्रेष्टदेवीग्रह प्रति आया

वहां तपकरता निजचित्तमें इसप्रकार वांछा करनेलगा कि मैं तपकेप्रभावसे इसदेवीकी विभूतिको प्राप्तिहोंउ

नृपवर ! उसमिथ्यादृष्टि ने निदानद्वारा अमूल्यरत्न को कौड़ियों में बेंच डाला अर्थात् मरकर मिथ्यात्वके योगसेस्त्रीकी पर्य्यायमें चंडमारि देवी हुई

और तेरी माता का जीव संसार में भ्रमण कर मिथ्यात्व के योगसे यह भैरवानन्द हुआ जिसे तूनें वार २ प्रणाम किया जिसकी आज्ञा से तेनें देवों की वलि के अर्थ अनेक जीवों के युगुल एकत्रित किये ।

अब यहभैरवा नन्द जो कि अधोमुख किये हुएकरुणा रससे पूरित तिष्ठा हुआ है यह मरण प्राप्त होकर कल्प वासी देव होइगा ।

श्री मुनिराज और भी कहने लगे कि राजन! यह उज्जैनी नगरी का यशोबंध नामका जगत्प्रसिद्ध उच्चस्कंध का धारक प्रजापालक था यह षट् दर्शन (मत) का भक्त था उसने अनेक कुदेवों के मठ बनवाकर मूर्ति स्थापन की अनेक तालाब और बावड़ी बनवाई अनेक धर्मशालाएँ बनवाईं जिन में सहस्रशः तापसों को भोजनादि सामिग्री से तृप्ति किये तथा ऊंचे ध्वजा और शिखरों मंडित रत्न खचित जिनराज की मंदिरों को उत्तम प्रकारसे प्रतिष्ठाभी कराई जैन साधुओं को आहार दानभी दिया और दुःखित जीवों को करुणाकर औषध आहारादि दान वितरण किया और अनेक प्रकार की भोग क्रीड़ा करता चिरकाल पर्यंत राज्य शासन कर पश्चात् मरण समय मिश्रभावके योगसे मरण प्राप्त होकर कलिंग देशके स्वामी महामदकर मदोन्मत्त भगदत्त नामक महाराज की भार्या से सुदत्त नाम का मैं पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ।

सुदत्त नामका राजा मैं राज्य शासन करनें लगा एक दिवस कोटपाल ने दृढ़ बंधन युक्त चौरको लाकर मेरे सन्मुख सभागृहमें उपस्थित किया और सनम्र होकर इस प्रकार विज्ञप्ति करने लगा।

कोटपाल— (हाथ जोड़ कर) श्री माहाराज की जय हो आज यह चोर बड़े प्रयत्न से पकडाहै आप इसके योग्य दंडदेने की आज्ञा दीजिये॥

महाराज सुदत्त (मैं)— इस समय इस चोर को कारावास में स्थापित करो पश्चात् विचर कर इसको दंड दिया जाइगा॥

इस प्रकार मेरी आज्ञा सुनकर कोटपालने जो आज्ञा महाराजकी कह करउस चौरको राजवाड़ेमें लेगया।

श्री दत्ताचार्य कहने लगे कि राजन्! कोटपाल चोर को लेगया पश्चात् मेरे निकट तिष्ठे हुए विद्वान् ब्राह्मणों से मैंने पूछाकि इस दुष्ट चोरको क्या दंड देना उचितहै॥

एक ब्राह्मण— श्री महाराज! इस चौर के प्रथम पांव कान नाक छेदन कर पश्चात् इस का मस्तक छेदन करना चाहिये॥

द्वितीय ब्राह्मण— पृथ्वीनाथ! यद्यपि इस चोर को यही दंड उचित है तथापि ऐसा करने से आप पाप भागी अवश्य होंगे इस कारण इस पापसे मुक्त होनेका प्रायश्चित का प्रथम विचार करलेना आवश्यकीय है॥

अन्य ब्रह्मण—श्री महाराज, धरानाथ! यद्यपि इनका कहना सर्वथा सत्य है परन्तु राजनीति के विषय में ऐसा विचार नहीं किया जाता क्योंकि यदि इसके अपराध योग्य दण्ड न दिया जाइगा तोभी आप पाप के भागी होंगें क्योंकि अपराधी को दण्ड देना राजनीतिके अनुसार राजा का धर्म है और यदि अपराधके योग्य दण्ड न दिया जाइगा तो समस्त प्रजा जन अन्याय से प्रवर्त्तने लग जाइगे।

इसप्रकार विद्वान् विप्रोंकी वार्त्ता श्रवणकर मैं सुदत्त निज हृदयमें विचार करनेलगा कि अहो इस संसार में जैसा करो उसी में पाप है यदि दण्ड देते हैं तो पाप और जो छोड़देते हैं तोभी पाप है इसकारण समस्त पापों की जड़ यह राज्य ही है इसकारण इसराज्य को जीर्ण त्रणकी भांति त्यागकर दिगंवरी दीक्षा धारण करूंगा।

इस प्रकार विचारकर समस्त राज्य और कुटम्ब आदिसे ममत्व त्याग निर्जन वन में समस्त परिग्रह का त्यजन कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करता भया पश्चात् तीर्थक्षेत्रादिकों में पर्यटन करता हुआ संघ सहित अनेकवार इस नगर में आया ॥

१ मूल प्राकृत ।

एवहिं हउ इत्थु चउविहसंघसमावरिउ ।
तउ तिव्वुतवंतु तणुकं चणुसम मित्तुरिउ ॥ २७ ॥

संस्कृतछाया ॥

एतस्मिन् अहंअत्र चर्विध संग समावृतः ।
तपः तीव्रंतपनूतृण कांचन सम मित्र रिपु ॥

मूलार्थ

सुदत्ताचार्य कहे हैं कि मैं इस अवसर में यहां चार प्रकारका संघ जो मुनि आर्य्य का श्रावक श्राविका के सहित तीव्र तपश्चरण करता हुआ तृण और कांचन को समान मानता हुआ शत्रु मित्र को समान जानता हुवा आया । उज्जैनी नगरी विषै यशोधर राधा का मंत्री गुण सिंधु नामा था जिसने मनुष्यों के शांति उत्पन्न करी उसने अपना मंत्री पद नागदत्त नामा पुत्र को दिया जो घर के भार का वहने वाला अर पिता के चरणोंका भक्त था गुणसिंधु मंत्री परिग्रह को त्याग कर समभाव के साथ घर विषै तिष्ठा ॥ वह शुभ भाव कर युक्त शुभ परिणाम

नोट (१) इस गाथासे आगे हमको नई टीका पंडित जी टीकाकारकी रचारथ रक्षा न रहने से नहीं प्राप्त हुई इस कारण यहां से हमने पुरानी टीका से नकल कर दिया है ।

करि विचरैहै ॥ वह शरीर त्याग श्रीपति नाम वणिक के घर गोवर्द्धन नामा पुत्र होता भया कैसा है गोवर्द्धन गुणनकर शोभायमान अरसम्यक्तवान् अरदैदीप्यमान है ललाट जाका अरुकरुणा विषै तत्पर अरपरोपकारी अरयशोमति राजा के संवोधनकरनेवाला अरुहेमारिदत्तराजा देखियो उदासीन गेरे संघविषैं तपलक्ष्मी का घर अर नरेंद्रहै सो समस्त शब्द सुन अर आनन्द अरशोक कर पूरित ही कहा मानो याअवसर में मैंहूं सो विनय ताहिकरी ॥ अर हेसाधो संवोधकर अरप्रभु जो आपहो सो धर्म लाभहै सोंकिया भलेप्रकार प्रसन्नहोय मोकूं दीक्षा ताहिदो तपश्चरण ताहि आचरण करूंगा ॥ अरशिक्षा ताहि पालन करूंगा ॥ तदि गुरुदीक्षा दिगंवरपणा विष तिष्ठा हेमारिदत्तराजा ऋद्धिहै सोत्याग तदि नरपतिहै सोनयप्रमाण करि जीतीहै कषाय जाने ऐसापैंतीस नरपतिसहित निग्रन्थ दीक्षाकर शोभायमान भया ॥ अरु त्यागाहै राज जाने ऐसा योगीश्वर है सोभला वैराग्य ताहिभया ॥ अरभैरवानंदहै सो प्रणाम करेहै ॥ भो स्वामिन्! स्वामीपणा कर दीक्षाके प्रसाद से शोभायमान् है ताहिकरो॥ गुणविशाल ऐसा मुनि है सो कहै है दीक्षा तेरे नाही है जाकारण तेंतेरे हाथमें छह अंगुलीहैं तो हे देव कहाकरो ॥ तदि साधु कहे हैं कितू अनुव्रतोंको पालन कर तेरी आयु अल्प है सो दीखे है ॥ सोतूं देहविषैं शीघ्रसंदर उपायकर ॥ तदिभैरवानन्द ने सन्यास ग्रहणकिया ॥ वाईस दिनपर्यंत चारप्रकार का सर्व आहार त्यागकर अरसमाधि मरण कर तीसरे स्वर्ग विषै भैरवानन्द उपजा ॥ वहुरि अभयरुचि क्षुल्लकने हू क्षुल्लक पणा त्याग तहां तिसही क्षण विषैं ऋषि पणां अंगीकार किया ॥ अरकामदेव को ध्यान के प्रभावकर

रोका ॥ अरु पांचो इंद्रियों के विषयन ते इंद्रियन को रोकी ॥ अरु अभयमति भी विरक्तभाव होतीभई कुसुमावलीने अर्जिका का चरित्र अंगीकार किया ॥ निग्रन्थमार्गको निर्मल ग्रहण किया ॥ अरु अभयरुचि जे मुनि तिनसे गुणका समूह तिन कूं स्मरण करते दोऊ अभयमति और कुसुमावली तिसदेवीके वनविषैं चारप्रकार की आराधना मनविषै धर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अरु तप ये चार आराधना आराधकर अरु बारह प्रकार के तप पापका हरनेवाला, अरु पंदरह दिनका संन्यास, अरु भली समाधि मरणकर दोनों ही प्राण त्याग दूसरे ईशान स्वर्ग विषैं दोऊ देव होतेभये ॥ उससमय शीघ्र ही सैकड़ों देव सेवा करनेलगे ॥ सम्यक्त केवलसे स्त्री लिंगछेद देवहोय विमान संबंधी अनेक क्रीडा करते भये ॥ तहां दोऊ देव जिन मंदिरों में अकृतिम प्रतिमाओंकी वंदनाकरतेभए ॥ कैसे हैं जिनभवन जगत विषैं उत्तम हैं अरु सम्यक्त करिस्वर्ग मोक्ष ताहि के प्राप्त करानेवाले हैं ॥ अरुसम्यक्तकर निश्चयते सुख होय ही हे ॥

मूल प्राकृत

तत्थाउ मुणिंदु चउविहसंघे परियरिउ ॥
सिद्धइरिहि णाम संपत्तउ जइवइ तुरिउ ॥ २६ ॥

संस्कृत छाया

तस्मात् मुनींद्रः चतुर्विध संघेन परिवृतः ॥
सिद्ध गिरिपर्वतं नाम्ना संप्राप्तःयतिपतिःत्वरितं ॥

मूलार्थ

तिस देवीके वन में सुदत्ताचार्य चार प्रकार के संघ कर वेष्टित सिद्ध गिरि नामा पर्वत पर यति पति हैं सो शीघ्र ही प्राप्त भया ॥ छ ॥ तहां सुदत्ताचार्य सिद्ध गिरि पर्वत विषैं

तिष्ठते संसार की अनित्य भावना को चिंतवन करे हैं । कि संसार की गति है सो नित्य नाहीं होय है ॥ सुंदर सत्य आराधनाको आराधन कर और एकाग्र चित्तहो सत्यार्थ पणा कर सात तत्वोंको जान संन्यास धारण कर भली समाधि से युक्त सात में स्वर्ग में प्राप्त भये अरु यशोमति राजा अरु कल्याण मित्र, अरु अभय नामा, अरु मारिदत्त अरुवणिक कुल रूप कमल के बोधने में सूर्य गोवर्द्धन सेठ, अर गुण के समूह कर विशिष्ट, अर कुसुमावली पाली है तीन गुप्त जाने, ऐसी अभयमति या प्रकार राजाकी पुत्री भव्य दुर्नय के नाश करनेको तप आचरन कर और सुंदर सन्यास कर स्वर्ग को सर्व ही प्राप्त भए ॥ गंधर्व नगर विषें कन्हडका पुत्र मुग्ध पुष्पदंत कविने भवन का वर्णन थिर मनकर किया सो मोकूं दोष नाहीं दीजिये पूर्वकवि वच्छ राय करि कहा सूत्र ताहि प्राप्त होय अरु मैं कवि पुष्पदंत ने यशोधर चरित्र रचा सो जानना ॥

मूल प्राकृत

जोजीवदयावरु णिप्पहरणकरु बंभयारि हयजरमरणु ॥
सो णाणतिलोयणु धम्मुणिरंजणु पुप्फयंतु जिणु महुसरणु ॥

॥ संस्कृत छाया ॥

जःजीवदयापरःनिःप्रहरणकरःब्रह्मचार्यहत्तजरामरणः ॥
सःज्ञांनत्रिलोचनःधर्मनिरंजनपुष्पदंतःजिन्नःममशरणम् ॥

मूलार्थ

जो जीवदया विषें तत्परप्रहारको नाहींकरनेवालाब्रह्म-चारी अरुहराथाहै जरामरण जाने और ज्ञानही हैं नेत्र जाके ऐसा पापरहित धर्म अरु पुष्पदन्त जिनमेरेशरणहोहु॥छा॥पापके

नाशकरनेवाली मुग्धनामा ब्राह्मणी के उदर विषैं उपजा सुंदर श्याम है वर्ण जाका अरु काश्यपगोत्र अरु केशवब्राह्मणकापुत्र जिनेंद्रके चरणोंका भक्त अरु धर्मविषैं आशक्त, व्रतसंयुक्त, उत्तमप्राणी, निःशंक, अभिमान करि चिन्हित अर प्रसन्न है मुखजाका॥ अरु कविकाखंडकाहिये अलपकवि, अरुरंजायमान करी है पंडितोंकी सभाजाने। अरु यशोधर महाराज की कथा करी है जो पुरुष मनोज्ञमन करसुने हैं पढ़े हैं पढावे हैं ॥ और इसका जगत में प्रकाश करें हैं अरु जो मनविषैं भावे हैं सो नर ज्ञानावरणादिक कर्मके पटल को उखेड़ शास्वती केवल ज्ञान संपदा को पाय मोक्ष प्राप्त होय हैं।

।मूल प्राकृत।

तंमायमहासइ देविसरासइ णिहयसयलसंदेहदुह ॥
महु खम उभडारी तिहुयण सारि पुप्फयंतजिणवयणकह॥

संस्कृतछाया।

ततहेमात महासतीहेदेविहेसरस्वातिनिहतसफलसंदेहदुःखे॥
ममक्षमतुहेभट्टारकित्रिभुवनसारे पुष्पदंत जिनवचनकथिते॥

मूलार्थ

सो हे मात हे महासती देवी सरस्वती सकल संदेह दुःख तूनेहरे हैं॥ हे भट्टारकी तू तीन भुवन विषै सार है सो मुझ पुष्पदंत को जिन कर कहा वचन रूपवाणी क्षमतु कहिये क्षमा करो।

मूलप्राकृत।

इय जसहरमहारायचरिए महामहल्लणणकण्णाहरणे महाकइ पुप्फयंत बिरइए ॥

महाकव्वे जसवइकल्लाणमित्तमारियव अभयरुइसगागमणो णाम चतुत्थोपरिछेउ समत्तो ॥

इति यशोधरमहाराज चरित्रे महा महत्तरनंद कर्णा भर्णा महा कवि पुष्पदंत विरचिते महा काव्ये यशोमति कल्याणमित्र मारिदत्त अभयरुचि स्वर्ग गमनः नाम चतुर्थ परिच्छेदः समाप्तम् ॥

इति यशोधर चारित्र सम्पूर्णम्
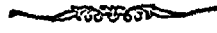
लाला गिरनारीलाल ने जैनी भाईयों के हितार्थ लाला जैनीलाल के 'जैनीलाल प्रिंटिंगप्रेस' देवबन्द ज़िला सहारनपुर में छपाकर प्रकाशित किया।